

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186342

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^R H 80.5-

^{P.G.11} Accession No. 3441

Author A 31-

Title

31 Jan 21

This book should be returned on or before the date last marked below.

टेलीफोन नं. १६६

— नई मुद्रा शा

तीस-चालीस वर्ष पहले तक बेतार का तार गण्य या जादू माना जाता था। आज सब देखते, सुनते और समझते हैं कि वह केवल एक वैज्ञानिक यन्त्र है। इसी तरह हमारे भी यह नीचे बताए यन्त्र हैं जो सब सच्चे हैं और बिना किसी मेहनत-परेशानी कौड़ियों के खर्च पर आपको न सिर्फ लखपति बना देंगे बल्कि हर समाज में आपको मान-प्रतिष्ठा दिला देंगे। जादू-समादू का सम्मान राजा से कम नहीं होता। यह सब शो घर बैठे ही केवल एक दिन में सहज ही खोले जा सकते हैं और फिर दूसरे ही दिन कहीं भी कभी भी दिखाए जा सकते हैं। कोई सिद्धि कोई जप नहीं करना पड़ता। प्रत्येक शो में वर्षों तक काम देने वाला उसका पूरा बना बनाया तैयार सेट, उसकी सरल और पूरी विधि सहित भेजा जाता है।

* **मैजिक बक्स** : इस बक्स में ताश का पता जला कर डाल देने से फिर खोल देखने पर वह पता सही और साबुत निकलेगा। सादा कागज जला कर डालने पर, नोट और रुपया डालने पर एक बार वह शायब हो जाएगा और दूसरी बार मिल जाएगा। (मूल्य २)।

* **मैजिक फ़नेल** : इसको स्त्री ही नहीं, किसी पुरुष की भी देह स लुआते ही इसमें से दूध की धारा निकलने लगेगी और इसको हटाते ही धारा निकलना बन्द हो जाएगी। (मूल्य २॥)

* **मैजिक गेंद** : यह रंग-बिरंगी गेंद सूत की डोर में पिरोई हुई है। आपके आदेश पर यह चलेगी-दौड़ेगी और रुकेगी। (मूल्य १॥)

* **तिरलोचनी** : इस छोटी-सी लकड़ी में तीन छेद हैं। किसी से, बीच के छेद में सीक डालने को कहने पर वह सीक को सिरवाले छेद में ही डालेगा। (मूल्य १)

* **कागज़ से नोट** : सादे कागज़ को जला कर उसकी राख में सबके देखते देखते नोट बना देना। (मूल्य १॥)

* **मैजिक मिस्ट्रीज़** : इसके द्वारा अपनी आँखों पर पट्टी बंधवा कर आप लिख सकते हैं, पढ़ सकते हैं और मोटर साइकिल चला सकते हैं। बहुत बड़ा जादूगर जब किसी नगर में जादू-विद्या का प्रदर्शन करता है तो पहले दिन अपनी आँखों पर पट्टी बंधवा कर इसी के द्वारा मोटर साइकिल से नगर के प्रमुख मार्गों पर चल कर सहज ही नागरिकों पर अपना प्रभाव जमा देता है। (मूल्य ५)।

* **तिथ्यत का बक्स** : किसी दर्शक की पड़ी इस बक्स में उसी से रखवा कर और ताला लगाकर बक्स उसी को दे दिया जाता है। परन्तु फिर ताला खोल कर देखने पर उसमें घड़ी नहीं मिलती। वह दूर से पर रखी डबल रोटी के काटने पर उसके अन्दर से निकलती है। (मूल्य ३॥)

* **विचित्र गोला** : यह एक ठोस रंगीन गोला सबके सामने देखते-देखते हाथ ही हाथ में एक से दो, फिर तीन और फिर चार बन जाते हैं। इसके बाद चार के तीन, दो और अन्त में एक रह जाता है। (मूल्य ३)

* **मास्टर मैजिक** : सबके सामने दर्शक के हाथ में से अँगूठी उड़ कर दूर रखे गिलास में पहुँच जाती है और फिर वहाँ से भी शायब होकर डबल रोटी के अन्दर से निकलती है। (मूल्य ३॥)

* **ताश का पूरा सेट** : ताश के नवीन चमस्कार के इस पूरे सेट द्वारा आप ताश के बीसो खेल दिखा कर धुरन्धर विद्वानों को भी चकर और हैरत में डाल देंगे। (मूल्य ११)।

* **मैजिक सिगरेट** : हवा में से दर्जनों असली सिगरेटें पकड़ लेना और चाहते ही तुरन्त सबको हवा में उड़ा देना। (मूल्य २॥)

* **मैमैरेजम शो** : लश्के को ज़मीन पर खिटा कर और चादर से ढँक कर बेदोशी की हालत में उससे सारे दर्शकों के अजीबो-गरीब प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक बता देने का गुप्त रहस्य इस कोर्स द्वारा आप घर बैठे ही केवल एक दिन में सीख जाएँगे और फिर आप दूसरे ही दिन अपने आपको 'मैमैरेस्ट' प्रसिद्ध कर सहज ही धन-मान और यश प्राप्त कर सकेंगे। (फीस ३)

नोट :—(१) पॉच रुपए से कम का माल नहीं भेजा जाता है। (२) माल की कम-से-कम चौथाई कीमत पहले आनी चाहिए।

१४३, दी यूनाइटेड मैजिक कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, मुरादाबाद.

‘अजन्ता’
की
परा मर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार, एम. पी.
मुकरंमबाही मार्केट, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
४-ए, थार्न हिल रोड,
इलाहाबाद.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव चिकित्सा-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, कालेज ऑफ आर्ट्स, हैदराबाद-द

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व-विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी ‘मिलाप’ हैदराबाद

‘अजन्ता’

हिन्दी प्रचार सभा, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद (आंध्र-प्रदेश)

विज्ञापन दर

आवरण पृष्ठ संख्या २ अन्तिम	१२५ रु०	प्रति मास
” पृष्ठ संख्या ३	९० रु०	”
” पृष्ठ संख्या ४	९० रु०	”
भीतरी प्रथम पृष्ठ	७५ रु०	”
सधारण भीतरी पृष्ठ	६० रु०	”
” आधा ”	३० रु०	”
” चौथाई ”	१५ रु०	”

वर्ष भर के लिए विज्ञापन देने पर २० प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा ।

छः मास के लिए विज्ञापन देने पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा ।

तीन मास के लिए विज्ञापन देने पर १० प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा ।

‘अजन्ता’ में विज्ञापन दे कर लाभ उठाइए ।

अज्ञाना

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष १०

दिसम्बर, १९५८

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्य-प्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर,
प्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

P. G.

दर्शन करोगे क्या !	विष्णु किशोर 'बेचन'	३८
बाबुलाल श्रीवास्तव	१ लोक गीतों में सोहर	
प्यार क्या है ?	सुरेन्द्र शुक्ल	४२
अम्बा शंकर नागर 'अमिताभ'	२ कविधित्र का पति (एकांकी)	
तब तक रखना आश है '	कैलाश कल्पित	४४
कृष्ण कुमार चौबे 'नूतन'	३ राजस्थानी और तेलुगु कहावतें	
गीत	कन्हैयालाल सहल	५१
रामेश्वर दयाल दवे	४ ब्राह्मण और उसका नौकर	
चार मुहक	तिलक	५४
'प्रेमी हृदय'	५ कला-चर्चा :	५६
दूर कहीं	सांस्कृतिक स्वरूप की नींव : भारतीय	
डॉ० वंशीधर वियालंकार	६ मूर्तियाँ : मोहन जी मेहरोत्रा, चीनी	
कलात्मक अभिरुचि	और भारतीय भित्तिचित्र : चाऊ युग	
डॉ० शम्भूनाथ सिंह	७ चिट्ठी-पत्री :	५८
नक्खलि निर्यात वाद	मनोहरलाल वर्मा, सुरेशचन्द्र सिंह नील, केशु	
कृष्णकान्त चतुर्वेदी	१४ विनोद 'प्रवासी' भवेशनाथ पाठक, एक तेलुगु	
भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन की पृष्ठभूमि	भाषा-भाषी	
गौरी शंकर ओझा	१७ नीर-क्षीर :	६०
मध्य युग में भारतीय शृंगार साधन	दूटा हुआ आदमी, मिर्जा गालिब, जीवनी और	
श्यामनन्दन शास्त्री	२१ काव्य, भारत के पक्षी, शिवालय की घाटियों में :	
कुआन हान-चिंग	वंशीधर वियालंकार	
बेंगचेन तो	२८ सामयिक :	६५
गुमदेव के साथ	३३ आन्ध्र-प्रदेश में लोक नाट्य	
प्रवक्ता : गुरुदयाल मल्लिक	चीनी किसानों की कविता	
अनुलेखक : प्रताप टोलिया	सम्पादकीय	६६
नई हिन्दी कहानियों की विकृत उपलब्धि	वंशीधर वियालंकार	



वर्ष १०

दिसम्बर १९५८

अङ्क १२

दर्शन करोगे क्या !

जाने कैसे भेट हुई उस दिन परमात्मा से,
 बोला मैं : “निष्ठुर हो देव, तुम दर्शन नहीं देते हो”
 बोले वे : “दर्शन तो देता मैं, दर्शन तू करता नहीं,
 कभी मैं भूखा बन, कभी मैं प्यासा बन,
 तेरे पाम आता हूँ,
 दुखड़ा सुनाता हूँ
 बोल, तू मुझको पहचान कब पाता है !
 दर्शन करेगा क्या, ठोकर लगाता है

ग्राम कठार,
 पोस्ट : वीरपुर (गाजीपुर)
 उत्तर-प्रदेश

—भागवत पाण्डेय 'सुषांशु'

प्यार क्या है ?

पूछते हो 'प्यार क्या है ?'
 प्रश्न ऐसा है तुम्हारा
 पूर्ति जिसकी है न सम्भव;
 प्यार को वाणी कहे
 यह तो असम्भव है असम्भव !

प्यार रहता है हृदय के
 कोश में संचित, सुरक्षित
 और उसके मर्म से जब
 स्वयं प्रेमी भी अपरिचित
 तब भला अनुमान से ही
 कह सके सारी हकीकत
 अन्य की सामर्थ्य क्या है !
 पूछते हो 'प्यार क्या है ?'

यह अनाहद नाद-सा बजता हृदय में,
 यह मधुर आह्लाद-सा सजता हृदय में,
 यह कसक बनकर कम्पकता है सदा,
 देव का वरदान है या आपदा !

प्यार को अभिशाप भी
 कहते मुना है प्रेमियों को
 प्यार को वरदान भी
 कहते मुना है प्रेमियों को
 सृष्टि का यह सत्य तो
 विलकुल विरोधाभास-सा है !
 पूछते हो 'प्यार क्या है ?'

तब तक रखना आश है

लहरें बढ़ती जाती अपने तीर को
 सबको अपनी मंजिल में विश्वास है
 जब तक सौंसों में गति तब तक साधना
 तब तक जीवन में रखना आश है

मौसम बदले बड़े पखेड़ राह पर
 अपनी दुनियाँ को पाने की चाह पर
 जो भी रुका, थके पग, समझो मर गया
 किसी कहणा उसकी कब किम आह पर
 चलते जब तक सूर्य चन्द्र के रथ यहाँ
 तब तक मन में लाना नहीं निराश है
 जब तक सौंसों में गति तब तक साधना
 तब तक ही जीवन में रखना आश है

तुम चाहो रो-लो गा-लो दो पल यहाँ
 चाहो समझा लो मन, दो पल नृत्य से
 जीवन संघर्षों का जीवन है यहाँ
 मोड़ न पाया कोई भी मुख सत्य से
 जब तक मंजिल दूर परीक्षा चल रही
 छलनाओं में करना नहीं निवाम है
 जब सौंसों में गति तब तक साधना
 तब तक ही जीवन में रखना आश है

उठो तुम्हारा तुमको आज पुकारता
 देती है आह्वान तुम्हारी चेतना
 तुम्हें तुम्हारा मन रोता है देख कर
 जगा रही है तुम्हें तुम्हारी वेदना
 आज समय आमन्त्रण देता है तुम्हें
 उष्ण रक्त, निकली बयों निःश्वास है ?
 जब तक सौंसों में गति तब तक साधना
 तब तक ही जीवन रखना आश है

गीत

तुम को आँसू के छन्दों में, अब बन्द करूँ भी तो कैसे ?

निशि में कब सोने देते हैं
ये नेह भरे तेरे सपने !
सपने, जिनमें खो जाता हूँ,
होगे न कभी मेरे अपने !
पर मधुर विवशता से मन को, स्वच्छन्द करूँ भी तो कैसे ?

पथ देख तुम्हारा क्षण क्षण पर
बावली प्रतीक्षा थक जाती
दुहरा कर प्राणों की पुकार
प्रतिध्वनि दूना है दुख पाती
पर मैं अनन्त पथ का राही, गति मन्द करूँ भी तो कैसे ?

अनुभव, विवेक की गुरु बाणी
है सुनने का अभ्यास नहीं
यदि सुनूँ, बढूँ, तो मच कह दूँ
है अपने पर विश्वास नहीं
तब मन के पगले भावों पर प्रतिबन्ध करूँ भी तो कैसे ?
तुम को आँसू के छन्दों में, अब बन्द करूँ भी तो कैसे ?

चार मुक्तक

बचपन है सुबह, बुढ़ापा है शाम
 जवानी है दोपहरी, जलाना ही काम
 कोई उपचार नहीं गर लग जाए कभी
 तीक्ष्ण वह तीर नयन है अन्नका नाम
 जेठ की धूल, भादों की रातें
 गोरी के चितवन भयंकर हैं घातें
 सह लो गर सह सको तो—
 कर लो जवानी की दो बातें
 जवानी भी क्या पनघट है कि पीकर भी हैं अनेक प्यासे
 तरमती रहीं ओखें चिढ़ा रही मुस्काती साँसे
 कि चाद बन कर रह गई यों ही सौगत
 पाने के लिए मचलती रह गई उसामे
 उम्र ! उम्र किम चिढ़या का नाम है
 सुबह मे शाम तक चढ़चढ़ाना ही काम है
 सजी हो दुलहन या कि गोरी
 जिन्दगी तो उम्र का ही एक नाम है

पाँच मुक्तक

मागर की लहरें उठ रहीं आकाश छूने को
 पवन मचल रहा है, जवाब पाने को
 ऐ-विज्ञान के ठेकेदारों, सम्मल कर कदम रखना
 कि मानव तब प रहा है अमर प्राण होने को
 माना ! अणु कारंग जम रहा धरा के कण कण में
 विनाश की घड़ी आ रही जग के हर क्षण क्षण में
 धिक्कार ! मानव पूछ रहा बता तो जग—
 क्या तुने ही लिया है जन्म मनु के वंश में !
 तो देख ले अब भौंक रही श्रम की वह बेला
 निर्माण का सूरज दे रहा जगको उजोला
 माना ! पाट दोगे मुरदों से जग का हर कोना कोना
 पर बढ़ नहीं सकता कभी अहं का अंधेला
 शान्ति का नाम ले, 'मोती का पुत्र' बढ़ रहा
 ध्वंस की राख में फूल वह बो रहा—
 मिट नहीं सकती कभी मानव कर मे मानव
 सर से कफन बांध कर गा रहा है तराना
 तो विनाश का पथ छोड़ निर्माण में लग जा
 मानवता के नाम पर बुद्धि खपाता जा
 इतिहास के पृष्ठों को मत कर तू कलंकित
 दुनिया में मनुजता को ही तू बढ़ाता जा

दूर कहीं

दूर कहीं दीपक जलता है
जिसे देखकर भटका राही, आशा के पथ पर चलता है

ऊपर नीचे अन्धकार है,
हुआ जगत् सब निराकार है
कृष्ण मस्तिनता में प्रकाश की चमक रही यह निर्मलता है

बार-बार इम दीप-शिखा पर,
क्यों आँखें टिकती हैं जाकर
इसकी लौ में जाग रही क्या मधुर प्रेम की बिहलता है !

लघु-सी दीप-शिखा के अन्दर,
बैठी जग की ज्योति सिमट कर
स्नेह जले जितना दीपक में होती उतनी उज्वलता है

इसका तन तो मट्टी का है
किन्तु हृदय सच्चा सोना है
सत्य स्नेह यदि जागृत हो, मट्टी से स्वर्ण निकलता है

लघुता है यह या कि बङ्गपन
यह जलना-मरना या जीवन
दीपक में कवि की प्रतिभा की टिम टिम करती चंचलता है

कलात्मक अभिरुचि

कलात्मक अभिरुचि व्यक्ति या समाज की मानवीय पूर्णता की कसौटी है और ऐसे सभी मानवीय प्रयत्न जो हमारे सीन्दूर-बोध को वृद्ध और तृप्त करके हमें आधारणीय आनन्द प्रदान करते हैं, कला की सीमा में आते हैं। कलात्मक प्रयत्न हमें जीवन की पूर्णता की ओर अप्रवर करने वाले होते हैं, मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाना ही उनका लक्ष्य होता है। ज्ञान-विज्ञान आदि मनुष्य को पशुत्व से ऊपर तो उठा सकते हैं किन्तु आनन्द-आत्मक पूर्णता प्रदान करने की क्षमता उनमें नहीं है। यही कारण है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले भी कलात्मक आनन्द की खोज करते और साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि लक्षित कलाओं में रुचि लेते पाए जाते हैं। वस्तुतः कलात्मक आनन्द की खोज मनुष्य की आदिम वामना है।

किन्तु विभिन्न युगों में सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ युगानुरूप इस कलात्मक अभिरुचि का स्वरूप भी बदलता रहा है। समाज-संरक्षणी दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि आदिम बर्बर-युग के जन-समाज में कलात्मक अभिरुचि का जो स्वरूप था वह परवर्ती सभ्य युगों के समाजों-सामन्ती समाज, पूँजीवादी समाज, समाजवादी समाज में नहीं रह गया। बर्बर युग में सामूहिकता की भावना के कारण उस समाज में कलात्मक अभिरुचि बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में होते हुए भी सभी व्यक्तियों में प्रायः समान रूप में होती थी। बाद में वर्ग-विभाजन के साथ ही कलात्मक अभिरुचि का आधार भी वर्गीय होता गया, अर्थात् विभिन्न वर्गों की कलात्मक अभिरुचि के स्वरूप में भी पर्याप्त वैषम्य रहने लगा। परवर्ती युगों में समाज के ऊपर 'जिम्' शासक वर्ग का प्रभुत्व रहता था, कलात्मक अभिरुचि भी उसी वर्ग की धारणाओं, इच्छाओं और भावनाओं के अनुरूप होती थी। शिष्ट और शासक वर्ग द्वारा उतनी मान्यता और सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण इतर सामान्य वर्गीय जनता की कलात्मक प्रवृत्ति और अभिरुचि का विकास नहीं हो पाता था। अतः शिष्टवर्गीय कलात्मक अभिरुचि और लोकगत

कलात्मक अभिरुचि में वैषम्य का होना स्वाभाविक था।

किन्तु सभ्य समाज में कलात्मक अभिरुचि के वैषम्य का कारण केवल वर्ग-भेद ही नहीं होता। व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास और भ्रमविभाजन तथा विहीनीकरण (स्पेशलाइजेशन) की पद्धति के कारण भी सामन्ती और पूँजीवादी समाज में सभी व्यक्तियों की कलात्मक अभिरुचि एक जैसी नहीं होती। सामन्ती-समाज में तो फिर भी कुछ घनीमत श्री क्योंकि समाज मुख्यतया दो ही वर्ग-सामन्ती उच्च वर्ग (ऐरिस्टोक्रैसी) और सामान्य निम्न वर्ग में विभक्त था। इस कारण उस समाज में कला भी दो ही प्रकार की थी, शिष्ट वर्ग की अभिजात कला और सामान्य निम्न वर्ग की लोक-कला। अभिजात कला के लिए उच्च वर्गीय परिवेश में रहनेवाले प्रायः सभी व्यक्तियों की अभिरुचि का स्वरूप प्रायः एक जैसा होता था। जैसा कि पहले कहा गया है, यह अभिरुचि शासक वर्ग की धारणाओं और इच्छाओं के अनुरूप होती थी। कलाकार भी उसका आश्रित होता था, अतः उसका संस्कार और उसकी कलात्मक प्रवृत्ति भी सामन्ती परिवेश के अनुरूप ही होती थी। यदि कोई कलाकार अपनी निजी विशिष्ट अभिरुचि के या प्रतिभा के बल पर नवीन कृतित्व प्रस्तुत भी करना चाहता था, तो इसके लिए उस वातावरण में प्रोत्साहन और सुविधा नहीं मिल पाती थी। यूरोपीय देशों की मध्यकालीन कला में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है, यद्यपि भारत में भी यह बात पर्याप्त रूप में देखी जा सकती है। इसी कारण मध्यकाल की अभिजात कला में निम्नवर्गीय जीवन की अभिजात व्यक्ति बिलकुल नहीं हुई है। डा० शूकिंग ने अपनी पुस्तक 'साहित्यिक एवं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' में लिखा है कि यूरोप में मध्यकाल में प्रमुख कलाओं का विकास पूर्णतया आश्रयदाताओं के दृष्टिकोण के अनुरूप ही हुआ। फलतः उस काल में अभिजात दृष्टिकोण अच्छे और बुरे दोनों पक्षों को तत्कालीन कलाओं में अच्छी तरह देखा जा सकता है। उनमें अगद को सामन्तों के चरणों से ही देखा गया है और

निम्न वर्गीय व्यक्ति के प्रति सहानुभूति या शारीरिक श्रम के प्रति समानता की अभिव्यक्ति कहीं नहीं हुई है।^१

किन्तु मध्यकाल में भी ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने सामन्ती संस्कृति और उच्चवर्गीय कलात्मक अभिरुचि के प्रति विद्रोह करके सामान्य जनता की संस्कृति और कलात्मक परम्परा को विकसित करने का प्रयास किया। ये लोग स्पष्ट ही सामन्ती वातावरण के बाहर के थे और व्यापारिक उन्नति के फलस्वरूप उत्पन्न नवोदित मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो सामन्ती एकतन्त्रवाद के बन्धनों से व्यक्ति को मुक्त करना चाहता था। इसी कारण इस वर्ग के कलात्मक प्रयत्नों में सामान्य जनता की भावनाओं, विचारों और जीवन-संघर्षों की अभिव्यक्ति हुई है और लोक-पंचकित कलात्मक रूपों को भी अपनाया गया है किन्तु मध्यकाल में इस प्रवृत्ति के विकास के लिये अनुकूल परिस्थिति नहीं थी। अतः यह प्राग्भिक स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि अभिजात कलात्मक अभिरुचि द्वारा शीघ्र ही दबा दी गई। किन्तु १८ वीं शत वी के अन्त में औद्योगिक विकास के साथ जो नवीन मध्यवर्ग उदित हुआ, उसने उस परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित और विकसित किया। इस तरह सामन्ती एकतन्त्रतावाद के विरुद्ध मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी के लोकतन्त्र के विद्रोह का प्रतिफलन कला के क्षेत्र में हुआ और अभिजात कलात्मक अभिरुचि की जगह स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि को पूर्ण स्वीकृति और मान्यता मिली।

इस पृथिवीवासी व्यवस्था में, आन्तरिक विरोध के कारण, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की खितनी अधिकता और तीव्रता है, उतनी इसके पहले कभी नहीं थी। साथ ही इस समाज में वर्ग-वैविध्य भी सामन्ती समाज की अपेक्षा अधिक है। ऐसे समाज में कलात्मक अभिरुचि में वैविध्य और वैषम्य का होना अवश्यभावी और स्वाभाविक है। आज के युग में औद्योगिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और शैक्षणिक विकास इस सीमा तक हुआ

है कि वर्तमान मानव-समाज का संघटन अत्यन्त उच्छिन्न हो गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इतना अधिक विशेषीकरण होता जा रहा है कि एक क्षेत्र के विशेषज्ञ क्या कर रहे हैं, इसका दूसरे क्षेत्र के लोगों को पता भी नहीं चल पाता। इन गंभीर क्षेत्रों में काम करनेवाले व्यक्ति अधिकतर मध्यवर्ग या उच्च मध्यवर्ग के ही होते हैं। फिर भी उन के कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न होने से उनकी कलात्मक रुचियों में भी बहुत अन्तर हो गया है।

विभिन्न युगों के सामाजिक संघटन, और वर्गीय परिवेश का विवेचन यहाँ इसलिये किया गया है कि हम देख सकें कि कलात्मक अभिरुचि का युगीन सामाजिक परिस्थिति से क्या सम्बन्ध होता है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कलात्मक अभिरुचि के निर्माण में बाह्य भौतिक परिवेश का बहुत अधिक हाथ होता है, किन्तु कलात्मक अभिरुचि पूर्णतया भौतिक या सामाजिक परिवेश की ही देन होती है, यह कहना उतना ही असम्भव होगा जितना यह कहना कि कलात्मक अभिरुचि किसी रहस्यमय आध्यात्मिक शक्ति की देन है और भौतिक परिवेश में उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। कलात्मक अभिरुचि के निर्माण और विकास में सामाजिक तत्त्वों का जितना योग होता है उससे कम योग मनोवैज्ञानिक तथ्यों का नहीं होता। कलात्मक संवेदन के चार रूप देखे जाते हैं १- कलात्मक रुचि, २- कलात्मक अभिरुचि, ३- तात्कालिक कलात्मक प्रचलन या फैला और ४- कलात्मक साधन। यों तो पशु पक्षियों में से भी किसी जाति में सौन्दर्य बोध की प्रवृत्ति देखी जाती है, किन्तु पशु से मनुष्य की अवस्था में आने पर एक सामान्य स्तर का सौन्दर्य-बोध सभी व्यक्तियों में विकसित हुआ जो बर्बर-युग के जनसमाज के सब लोगों में मगान रूप में दिखाई पड़ता था। वह सामान्य सौन्दर्य-बोध आज भी प्रत्येक व्यक्ति में मिलता है। यह सौन्दर्य-बोध एक प्रकार की मानवीय सहजात वृत्ति ही है जो विकसित सौन्दर्य-बोध और कलात्मक अभिरुचि का मूलधार है। इसके दो रूप होते हैं (१) रचनात्मक और (२) संप्रादक।

1 "In the middle ages much of the principal art kept entirely within the general out-look of the breadgiver. Consequently, both the bright and dark sides of that outlook are plainly discernible. The world is seen through the spectacles of the feudal lord; there is no feeling for the little man and no respect for physical labour." Dr. levin L. Schuking. "The sociology of literary taste. Page 9."

सामान्यस्तर वाली सौन्दर्य शोध वृत्ति ही वह संप्रादक शक्ति है जो सब में बहुत कुछ एक जैसी होती है। किन्तु कला की वह रचनात्मक शक्ति सबमें नहीं होती जिसे कलात्मक प्रतिभा या प्रज्ञा कहा जाता है। एक बार समाज में श्रम-विभाजन और व्यक्तिवाद का विकास हो जाने पर समाजवादी समाज-व्यवस्था में भी इन्हें भिटाया नहीं जा सकेगा; अतः कला ही नहीं, विज्ञान, शास्त्र आदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी जन्मजात कलात्मक प्रतिभावाने व्यक्ति हमेशा रहेंगे।

सामान्य कलात्मक रुचि का ही विकसित रूप कलात्मक अभिरुचि है। जब कोई व्यक्ति कला को ही अपना कार्यक्षेत्र बना लेता है अथवा अन्य क्षेत्रों में कार्य में करते हुए भी अपने व्यस्त जीवन से प्रयत्नपूर्वक समय निकाल कर अत्यन्त लगन से कलात्मक आनन्द की खोज में तल्लीन होता और कला-वस्तु के सत्-असत् और सुन्दर, असुन्दर पक्षों की पहचान करने लगता है तो कहा जाता है कि उस व्यक्ति में कलात्मक अभिरुचि है।

पूँजीवादी समाज में इस कलात्मक अभिरुचि के भी विभिन्न स्तर-भेद दिखाई पड़ते हैं। यह स्तर-भेद अवस्था, मनोवैज्ञानिक गठन, संस्कार और शिक्षा के स्वरूपों के भेद से उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में बच्चे की कलात्मक रुचि वस्तुगत और स्पष्ट रंग रेखाओं वाली कला जैसे वर्णनात्मक कविता, पशु-पक्षियों के चित्र, सीधे स्वर वाले गीत आदि की ओर होती है। वयःसंधि काल के बाद किशोरावस्था में जब उसकी कल्पनाशक्ति आपत होती है तो वह काल्पनिक वस्तु-तत्त्व और आकर्षक रूप—शिल्प वाली कला, जैसे परियों की कहानी और गहरे रंगों वाले चित्र आदि की ओर आकर्षित होता है। युवावस्था के प्रारम्भ के साथ ही या तो वह जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर मुड़ जाता है और उसकी कलात्मक रुचि का विकास रुक जाता है या वह जीवन के रोमानी पक्षों को अभिव्यक्त करने वाली भावुकता पूर्ण कला में अभिरुचि लेने लगता है। पूर्ण युवक हो जाने पर भी यदि उसमें कलात्मक अभिरुचि

बनी रहती है तो वह कला को गम्भीरता पूर्वक ग्रहण करने लगता और लगन तथा अभ्यास द्वारा कलात्मक आनन्द की उपलब्धि करता हुआ अपनी जीवन-दृष्टि का उत्तरोत्तर विकास और प्रसार करता जाता है। इस समय तक उसकी कलात्मक अभिरुचि उस विशिष्ट स्तर तक पहुँच जाती है जिसमें सदसत् और सुन्दर-असुन्दर को पहचानने तथा कला के मर्म और कलाकार के उद्देश्य या सन्देश को समझने की क्षमता होती है। वस्तुतः यही कलात्मक अभिरुचि का गम्भीर और सफ़ट स्तर है। टी. एस. इलियट ने किशोरावस्था की कलात्मक अनुभूति और युवावस्था की परिपक्व कलात्मक अनुभूति में यह अन्तर बताया है कि किशोरावस्था में रसज्ञ या महदय की चेतना को कोई कविता या किसी एक कवि की कविताएँ कुछ काल के लिए इतना अभिभूत कर लेती हैं कि वह उन कविताओं में खो जाता है, उन्हें अपने से बाहर नहीं देखता, बल्कि अपने अन्तरगत का अंग मानता है। इसके विपरीत युवावस्था के परिपक्व कलात्मक आनन्द की अनुभूति में रसज्ञ कविता या कवि में अपने को खो नहीं देता, उनका आलोचनात्मक विवेक कविता पढ़ते समय भी बना रहता है अर्थात् वह अपने व्यक्तित्व को कविता के अस्तित्व से अलग रखता है।^१ इलियट के इस कथन में मतभेद हो सकता है और यह कहा जा सकता है कि पूर्ण कलात्मक आनन्द की प्राप्ति के लिए कलाकृति अथवा कलाकार के साथ रसज्ञ का तादात्म्य होना आवश्यक है किन्तु उसके कथन का यह अंश अवश्य निर्विवाद है कि परिपक्व रसज्ञता के लिए भावुकता की जगह भाव-पवणता और विवेक-शक्ति का होना आवश्यक है। किशोरावस्था में जिन कवियों या कविताओं को हम बहुत पसन्द करते हैं जीवनानुभूतियों से युक्त प्रौढ़ावस्था में पहुँचने पर प्रायः वे ही छिड़खली और हलकी मालूम पड़ने लगती हैं।

टी० एस० इलियट का यह कथन भी पूर्णतया सच है कि बहुत से व्यक्ति अपने जीवन भर कलात्मक अभिरुचि के स्तर की दृष्टि से बच्चे या किशोर ही बने रह जाते हैं अर्थात् अवस्था-परिवर्तन के साथ उनकी

1. "At this period, the poem or the poetry of a single poet, invades the youthful consciousness and assumes complete possession for a time. We do not really see it as some thing with an existence outside ourselves."

T. S. Eliot—"The use of poetry and the use of Criticism."

कलात्मक अभिरुचि में परिवर्तन आर, विकास नही हो जाता । इसका मनोवैज्ञानिक कारण चाहे जो हो, पर उसका प्रभाव यह होता है कि इससे, समाज में, एक अवस्था वाले सभी सदस्यों की कलात्मक अभिरुचि एक जैसी नहीं रह पाती । विभिन्न प्रकार की कलात्मक अभिरुचियों में मलय या अप्रत्यक्ष रूप से द्वन्द्व होता रहता है । बहुत से कवि या कलाकार जो अपनी किशोरावस्था वा भवुकतापूर्ण कलाकृतियों के कारण विद्यार्थी वर्ग या उसी मनोदशा वाले प्रौढ़ों के बीच लोकप्रिय हो जाते हैं, प्रौढ़ हो जाने के बाद उसी प्रकार की कलाकृतियों का निर्माण करते रहते हैं, क्योंकि वे उस भावुकतापूर्ण लोकप्रियता का मोह नहीं छोड़ पाते । इससे कला और कलात्मक अभिरुचि दोनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है ।^१

व्यक्तियों के पारिवारिक और सामाजिक सम्पर्क से विकसित कलात्मक संस्कार और उनकी शिक्षा के स्वरूप और स्तर अनुसार भी कलात्मक अभिरुचि का विकास भिन्न भिन्न प्रकार का होता है । व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है प्रायः उसी के अनुरूप उसके सांस्कृतिक संस्कार भी होते हैं । आधुनिक युग में नगरों और ग्रामों की जीवन-विधि और सांस्कृतिक स्तर में बहुत अन्तर हो गया है । उसी तरह नगर में रहने वाले लोगों में भी विभिन्न प्रेक्षक व्यक्तियों के अलग अलग गुण या मनुष्य होते हैं जिनमें जनक संस्कार भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं । इस कारण आज के मध्यवर्ग के सभी सुशिक्षित लोगों की कलात्मक अभिरुचि एक ही नहीं होती । शिक्षा-व्यवस्था में असमानता और, उनकी वृत्तियों के कारण भी कलात्मक अभिरुचि के स्तरों में अन्तर पैदा जाता है । अंग्रेजों ने हमारे देश में, जो शिक्षापद्धति प्रचलित की थी, नमों में कलात्मक अभिरुचि विकसित करने की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी । स्कूल-कालों में साहित्य की जो शिक्षा दी जाती है, उसका लक्ष्य छात्रों को परीक्षा पास कराना होता

है, न कि उन्हें इस योग्य बनाना कि वे साहित्य का विवेकपूर्ण आस्वादन कर सकें । विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों तक में साहित्य और कला की आधुनिकतम प्रवृत्तियों और सामयिक कलात्मक अभिरुचि की जानकारी करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती । इन सब कारणों से प्रायः अधिकांश शिक्षित व्यक्तियों का कलात्मक ज्ञान आधुनिकता की दृष्टि से पिछड़ा रह जाता है । नवीन कलात्मक अभिरुचि के प्रचार में इसमें इससे भी अत्यधिक बाधा उपस्थित होती है ।

कलात्मक अभिरुचि का तीसरा रूप है तार्किक कलात्मक प्रचलन या फैशन । कलात्मक अभिरुचि और कलात्मक फैशन में अन्तर यह है कि पहले में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होता है और उसके मूल में सामाजिक कारण होते हैं जबकि दूसरा अस्थायी होता है, उसके पीछे कोई सामाजिक कारण नहीं होता । पहले का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं के आग्रह से और दूसरे का प्रदर्शन की प्रवृत्ति अथवा समाज में अपने को औरों से अलग दिखाने की ललक में होता है । कलात्मक अभिरुचि का लक्ष्य कला के माध्यम से आत्मा का संस्कार करना और जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक और ऊर्ध्वगामी बनाना होता है । इस कारण वह अन्तर से उद्भूत प्रवृत्ति है जब कि कलात्मक फैशन एक स्थूल और बाह्य वस्तु है । वह एक छोड़ा रास्ता (शार्ट कट) है जिससे चल कर कलाकार या कला प्रेमी तत्काल लोकप्रिय होना चाहता है या लोकप्रिय न भी होना चाहे तो औरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लक्ष्मिपति के सिद्धान्त के अनुसार अपने को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहता है ।

कलात्मक संवेदन का उत्कृष्टतम रूप है कलात्मक साधना । इस अवस्था में पहुँच कर कलाकार या कला-प्रेमी कला के लिए अपने को अर्पित कर देता है । इस आत्मार्पण का उद्देश्य लोकोत्तर होता है क्योंकि इस प्रकार कला प्रेमी कला के माध्यम से कुछ पाना नहीं बल्कि

1 "The third or mature stage of enjoyment of poetry comes when we cease to identify ourselves with the poet, we happen to be reading; when our critical faculties remain awake, when we are aware of what one poet can be expected to give and what he cannot. The poem has its own existence apart from us, it was there before us and will endure after us."

T. S. Eliot: "The use of poetry and the use of criticism."

अपनी जीवनाभूतियों की उपलब्धियों से संसार को लाभान्वित करना चाहता है। प्रायः सभी महान कलाकारों की कलात्मक अभिरुचि इसी कोटि की हुआ करती है। ऐसे कलाकार लोकप्रियता, सम्मान, और धन-सम्पत्ति की चिन्ता नहीं करते, लौकिक सुख और परिवार की चिन्ता उन्हें नहीं होती और इसी कारण वे विश्व-कलाकार के पद पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं। यह सही है कि इस प्रकार की साधनात्मक कलात्मक अभिरुचि प्रायः रचनात्मक कलाकारों की ही होती है किन्तु आलोचक भी, जो मूलतः परिपक्व रसज्ञ ही होता है, कभी कभी इस साधनात्मक कोटि तक पहुँच जाता है।

कलात्मक अभिरुचि में परिवर्तन : ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कलात्मक अभिरुचि का निर्माण और विकास सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार के कारणों से होता है। हम सब जानते हैं कि विभिन्न युगों में उसका स्वरूप परिवर्तित होता चलता है। सामन्ती समाज में उच्च वर्ग की कलात्मक अभिरुचि अभिजात या क्लासिकल थी। इसका कारण सामन्ती वर्ग की वे मान्यताएँ थीं जो व्यक्ति को सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक बन्धनों में जकड़े रहती थी। यही बन्धन और नियमन सभी देशों की सामन्ती कला में उनकी सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप विविध रूपों में दिखाई पड़ते हैं। पर उस काल की, धार्मिक आन्दोलनों या सम्प्रदायों से प्रभावित कला अभिजात कलात्मक आदर्शों से उतनी प्रभावित नहीं है। इसके विपरीत उसमें लोक-जीवन में प्रचलित कलात्मक रूपों और उपादानों को अधिक अपनाया गया है क्योंकि इस प्रकार की लोकोपमुख कला प्रायः सोद्देश्य होती थी। शताब्दियों तक ये दोनों प्रकार की कलात्मक अभिरुचियाँ साथ-साथ प्रचलित रहीं क्योंकि सामाजिक कारणों से दोनों का द्वन्द्व तीव्र नहीं होता था या धर्म और राज्य के बीच गठबन्धन के कारण उनका सह-अस्तित्व बना रहता था। औद्योगिक क्रान्ति, व्यक्तिवाद के विकास और जनतन्त्रात्मक भावना के विकास के बाद अभिजात कलात्मक अभिरुचि की जगह किस तरह स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि प्रतिष्ठित हुई, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। किन्तु यह परिवर्तन यात्रिक ढंग से एकाएक नहीं हो गया। नवीन स्वच्छन्दतावादी अभिरुचि वाले लोगों को पुरानी अभिजात अभिरुचि

वाले लोगों के अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ा। वस्तुतः सामाजिक परिवर्तनों के बाद भी पुराने विचारों और संस्कारों के लोग तो बने ही रहते और वे अपने संस्कारों से हड़ता पूर्वक चिपके रहते हैं। इसी द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप सामाजिक परिवर्तन के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में कलात्मक अभिरुचि में परिवर्तन नहीं होता, पुरानी रुढ़ियों के टूटने और नई परम्परा के स्थापित होने में पर्याप्त समय लगता है। यही बात कलात्मक अभिरुचि के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

किन्तु स्वच्छन्दतावादी कलात्मक अभिरुचि भी बहुत दिनों तक नहीं रह सकी। इस सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त नहीं होगा कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तिवादी विद्रोह का भ्रम टूटने के कारण अतिशय व्यक्तिवादी, निराशावादी, रहस्यवादी और प्रतिक्रियावादी कलात्मक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वर्गीय आधार में परिवर्तन हुए बिना ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति क्यों समाप्त हो गई और प्रकृतिवादी, यथार्थवादी या समाजवादी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ क्यों हो गया? इस तरह पूँजीवादी युग में कलात्मक अभिरुचि के इतनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन के सम्बन्ध में कला के वर्गीय आधार वाला सिद्धान्त लागू नहीं होता। इस सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि पूँजीवादी युग में सामाजिक संघटन अत्यन्त जटिल हो गया है और राजनीतिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास के कारण वह जटिलता और भी बढ़ गई है। इसलिए एक ही वर्ग के विभिन्न लोगों की कलात्मक अभिरुचि के स्वरूप में भिन्नता दिखाई पड़ती है। विज्ञान ने मनुष्य को एक बहुत बड़ी शक्ति दी है और वह है विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध गति। वह गति भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, वह हमारे मन को भी प्रभावित करती है। फलतः पूँजीवादी समाज का व्यक्ति दूसरों से होड़ करता हुआ मानसिक क्षेत्र में भी तीव्र गति से आगे बढ़ना चाहता है और बढ़ रहा है। इस तीव्र गतिता के अप्रत्यक्ष प्रभाव से कला के क्षेत्र में भी लोग किसी एक प्रवृत्ति में अधिक दिनों तक अभिरुचि नहीं रख पाते। वे जल्दी ही उसकी एकसता से ऊब जाते हैं और नवीन कला प्रवृत्तियों की उद्भावना, अन्वेषण और परिशीलन करने लगते हैं।

कलात्मक अभिरुचि के शीघ्र परिवर्तन के मूल में

विज्ञान का बहुत अधिक हाथ इसलिये भी है कि जिस तरह पूर्ववर्ती युगों में धर्म-दर्शन आदि कला को प्रभावित करते थे उसी तरह आज विज्ञान कला को सर्वाधिक प्रभावित कर रहा है। विज्ञान की उपलब्धियों से जहाँ कला का क्षेत्र व्यापक और गहरा हुआ है, वहीं विज्ञान की प्राविधिक प्रगति से प्रभावित होकर कला स्वरूप और शिल्प भी अत्यधिक सूक्ष्म, दुरुह तथा चीन्हागम्य होता जा रहा है। यही नहीं, विज्ञान तथ्य अन्तिम सत्य नहीं माना जाता और नवीन उपलब्ध तथ्यों से पुराने तथ्य निरन्तर खारिज होते रहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विस्तार के फलस्वरूपों के क्षेत्र में भी यह बात स्वीकार की जाने लगी है जिससे एक काल रूप बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रहने पाता। अतः कला-रूपों के परिवर्तन के साथ साथ कलात्मक अभिरुचि भी जल्दी-जल्दी बदलती जाती है।

यदि आधुनिक कला की उपलब्धियों की दृष्टि से देखा जाय तो उस पर विज्ञान के दो प्रकार के प्रभाव दिव्याई पड़ते हैं। आधुनिक कलात्मक अभिरुचि के भीतर उसकी जड़ें गहराई तक गई हुई हैं। विज्ञान ने वर्तमान शताब्दी में अपने इंद्रात्मा और निर्माणात्मक दोनों प्रकार की शक्तियों और संभावनाओं के महत्व को पूर्णतः सिद्ध कर कर दिया है। उसके इन दोनों रूपों ने प्रत्यक्ष-या अप्रत्यक्षतः कला को प्रभावित किया है। उप के ध्वंसात्मक रूप की प्रतिक्रिया के फल स्वरूप कला में एक ओर तो मानवतावादी और स्वस्थ यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, दूसरी ओर उससे भयभीत होकर विघटनशील पलायनवादी और घोर निराशावादी प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुई हैं। उसी तरह उसके निर्माणात्मक रूप ने कला में नये रूप-शिल्प, नवीन आस्था और जीवन सूर्यों तथा नये मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तथ्य संबंधी प्रयोगों को भी जन्म दिया है। चूंकि विज्ञान निरन्तर नये नये तथ्यों और क्षेत्रों का उद्घाटन करता जा रहा है, अतः कला क्षेत्र में भी प्रयोग और नवीनता की अभिरुचि बढ़ती ही जा रही है और इसी कारण इस शताब्दी की कलात्मक अभिरुचि इतनी जल्दी जल्दी बदलती दिखलाई पड़ती है।

कलात्मक अभिरुचि के सम्बन्ध में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, कुछ लोग तो एक ही अभिरुचि को आजीवन अपनाए रहते हैं और कुछ की अभिरुचि

में परिवर्तन होता चलता है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि मनुष्य के स्वभाव में किसी वस्तु को ग्रहण करने या अस्वीकृत करने के सम्बन्ध में दो मूल-वर्तिनी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। एक प्रवृत्ति तो यह है कि परिचित वस्तु के प्रति हमारे मन में बहुत पक्षपात रहता है और जो वस्तुएँ एकदम अपरिचित होती हैं, वे विचित्र और विजातीय प्रतीत होती हैं। दूसरी प्रवृत्ति यह है कि जो वस्तु अति परिचित होती हैं उससे हम ऊब जाते या उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं। एक ही प्रकार की वस्तुएँ जब बिना किसी वैविध्य और नवीनता के बराबर हमारे सामने आती हैं तो उनमें विशेष आकर्षण नहीं रह जाता और उनकी एकरसता उबाने और थकाने वाली हो जाती है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनुष्य के मन में साथ साथ रहती हैं। हम परिचित को छोड़ कर बिलकुल अपरिचित को ग्रहण नहीं करना चाहते किन्तु साथ ही अति परिचय के कारण उससे ऊबना या थकना भी नहीं चाहते, अर्थात् जिसे हम बिलकुल नहीं जानते और जिसे बहुत अधिक जानते हैं, वे दोनों ही हमारी अभिरुचि को सहज प्राप्त और प्रीतिकर नहीं होते। विचित्र वस्तुएँ हमारे मन को धक्का देती और अतिपरिचित वस्तुएँ उसका स्पर्श ही नहीं करती हैं। इसलिये हम किसी वस्तु में परिचय और नवीनता दोनों का समन्वय चाहते हैं। कला के क्षेत्र में अनुकृत कृतियाँ इसी कारण महत्व नहीं प्राप्त करती क्योंकि उनमें मौलिकताजग्य नवीनता नहीं होती उसी तरह अतिशय अपरिचित, दुरुह और बेवल् मन को झकझोरने की दृष्टि से निर्मित कोरी प्रयोगात्मक कलाकृतियाँ भी न तो लोकप्रिय होती हैं, न महत्वपूर्ण ही मानी जाती हैं। कलात्मक अभिरुचि के परिवर्तन में मानव-मन की इस प्रवृत्ति का बहुत अधिक हाथ होता है। किसी विशेष कलाप्रवृत्ति में लोगों की अभिरुचि तभी तक रहेगी जब उसमें नवीनता और मौलिकता बनी रहे और ज्यों ही वह बासी, हृदिगत और चिराचरित हो जाएगी, कला-प्रेमियों की अभिरुचि स्वभावतः नई दिशाओं की ओर मुड़ेगी।

किन्तु इस प्रवृत्ति के अपवाद भी होते हैं। ऐसे लोगों को जो जीवन भर केवल परिचित चेहरे देखने या घिसे सिककों का व्यवहार करने के ही अभ्यासी और आग्रही होते हैं, एक प्रकार से अपसाधारण (ऐबनार्मल)

मन वाला मानना चाहिए। उनके जीवन का विकास रुक जाता है और वे धीरे-धीरे जड़ता की ओर अभिसर होने लगते हैं। नवीन कलात्मक अभिरुचि के विकास और प्रसार के सबसे बड़े विरोधी ऐसे ही लोग होते हैं। इसके अतिरिक्त उन लोगों का व्यक्तित्व भी अपमाधारण ही होता है जो वैचित्र्य, नवीनता और मौखिकता लभने के लिए कलात्मक परम्पराओं का पूर्ण तिरस्कार कर देते और कथ्य और शिल्प के अव्यूह प्रयोगों द्वारा इतना अधिक चमत्कृत करना चाहते हैं कि परिष्कृत कलात्मक अभिरुचि का व्यक्ति भी उनकी कला-कृतियों की ओर ध्यान देना बन्द कर देता है। यह पहेली और जादूरी वाली कला थोड़ी देर के लिए चकित और चमत्कृत भले ही कर दे पर वह या तो अधिकांश लोगों के लिए प्रेषणीय नहीं होती या उसमें जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को विकसित करने की क्षमता नहीं होती है। वस्तुतः वह नवीन प्रचलन या फैशन के रूप में ही उत्पन्न होती और शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। अतः नवीन कलात्मक प्रवृत्तियों में केवल वे ही स्थायित्व और महत्व प्राप्त करती हैं जो परम्परा को बिना छोड़े युगीन सामाजिक मन्दर्भों में नवीन और मौखिक वस्तु और शिल्प को प्रतिष्ठित करती हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि उस कलात्मक प्रवृत्ति के लिए सामाजिक भूमिका तैयार नहीं है तो वह अधिक दिनों तक नहीं चल पाती। बहुत से कवि कलाकार अप्रदृष्टा होते हैं। वे उन विचार धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके लिए अभी सामाजिक भूमिका तैयार नहीं रहती है। अतः उनकी कलाकृतियाँ युगों तक अलक्षित और अस्मिता रूप में पड़ी रहती हैं और जब बाद में, कभी-कभी शताब्दियों बाद, उनके अतुल्य सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है तो उनका पुनरुद्धार या पुनरस्थापना की जाती है और उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले उस नवीन कलात्मक अभिरुचि को विकसित करते हैं।

अन्त में कलात्मक अभिरुचि के प्रसार-प्रचार की

पद्धतियों पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा। कलात्मक अभिरुचि के दो पक्ष हैं: कर्तृ-पक्ष और सहृदय पक्ष। बिना कलाकृति के सहृदय की अभिरुचि नहीं बनेगी और बिना सहृदय के कलाकृति का सम्प्रेषण किमको होगा? किन्तु यह प्रायः देखा जाता है कि जब नवीन कलात्मक प्रवृत्तियों का जन्म होता है तो उनके विरोधी ही अधिक होते हैं और कभी-कभी तो इसके-दुष्के व्यक्ति ही उनके समर्थक होते हैं। यदि उस कला-प्रवृत्ति में क्षमता होती है और उसके लिए उपर्युक्त सामाजिक भूमिका भी बनी रहती है तो धीरे-धीरे उसके समर्थकों या सहृदयों की संख्या बढ़ती जाती है और विरोध का स्वर अपने आप दबता जाता है। किन्तु आज के युग में केवल कला की निजी शक्ति ही अभिरुचि बनाने में सफल नहीं हो सकती। मध्ययुग में आश्रयदाता की कृपा से कलाकार को समाज में यश सम्मान आदि मिलता था। आज आश्रयदाता की जगह प्रकाशक, समाचार पत्र, आलोचक और सांस्कृतिक और साहित्यिक गोष्ठियों ने ले ली है। जो लोग किसी कला-प्रवृत्ति का प्रारंभ में बहुत विरोध करते हैं, बार बार अनचाहे भी उसके बारे में सुनते, पढ़ते और उसे देखते रहने से उनका उस प्रवृत्ति से एक प्रकार का परिचय हो जाता है और विरोध का भाव धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। समाचार पत्र, प्रकाशक और गोष्ठियाँ इसी प्रचारात्मक पद्धति द्वारा नवीन कलात्मक अभिरुचि को फैलाने में अत्यधिक सहायक होती हैं। जो कलाकार आज के इस प्रचार के युग में इन सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं, वे अधिकारी होते हुए भी समाज से अपना उचित प्राप्य नहीं ले पाते। और इसके विपरीत प्रायः कलात्मक फैशन वाली कृतियाँ इन सुविधाओं के मिलने के कारण बहु प्रचारित हो जाती हैं। हाँ, उनमें स्थायी प्रभाव कितना होता है, यह दूसरी बात है, क्योंकि कुछ पीढ़ियों के बाद ही कला-प्रवृत्तियों, कला-कृतियों और अभिरुचि का सही मूल्यांकन सम्भव होता है।

काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

—डा० शम्भूनाथ सिंह

मकखलि निर्यातवाद

बौद्ध और जैन धर्म के चरम उत्कर्ष के सामने तत्कालीन अनेक मत-मतान्तर इतिहासकारों की दृष्टि से ओझल हो गए। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण इस त्रिकोण के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का वर्णन गोया हो गया। और इसी उपेक्षा के परिणाम-स्वरूप आज हमें उन सम्प्रदायों के नाम भी याद रखने में कठिनाई होती है। इन सम्प्रदायों का भारतीय जन-जीवन पर पर्याप्त प्रभाव था। अनेकों सम्प्रदायों के सहयोगियों की संख्या ८०,००० तक थी। उससे प्रभावी जन समुदाय की कल्पना स्वयं की जा सकती है। अनेक सम्प्रदाय ई० पूर्वं ५०० से ई० पश्चात् १००० तक रहे। निःसन्देह ऐतिहासिकों ने इन के साथ न्याय नहीं किया। यत्र तत्र उनका उल्लेख किया गया है पर वह भी अपर्याप्त।

बौद्ध ग्रन्थों में बौद्धतर छह सम्प्रदायों के संस्थापकों (तिर्यकर) का वर्णन मिलता है। संयुक्त निकाय में प्रसेनजित कहते हैं कि, “समग्रा ब्राह्मणा संधिनो गणिनो गणाचरिया जता यसस्सिधो तिर्यकरा साधु सम्मता बहुजनस्स।” अर्थात् “वे धार्मिक जीवन के नेता, संघों के नेता, गणों के नेता, गणों के आचार्य, सुविख्यात, दर्शनों के यशस्वी संस्थापक थे।” इसी में आगे उल्लेख है कि वे सभी बुद्ध से अधिक अवस्था के थे। इन आचार्यों में आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मकखलि गोशाल का भी उल्लेख है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ ‘बौद्ध-दर्शन मीमांसा’ में इनका उल्लेख किया है। मकखलि शब्द पालिभाषा का है। इसका संस्कृत स्वरूप ‘मस्करिन्’ है। पाणिनि के एक सूत्र में इसे स्पष्ट किया गया है। ‘मस्करमस्करणौ वेणुपरिव्राजकयोः’ (६-१-१५४) इसके द्वारा मस्करि शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। ‘वेणु’ अर्थ में ‘मस्कर’ तथा परिव्राजक अर्थ में मस्करिन् निपातन से सिद्ध होते हैं। महाभाष्यकार ने व्याख्या करते हुए कहा है : ‘न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करि परिव्राजकः। किं तर्हि मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वै श्रेयसीत्याहातो मस्करि परिव्राजकः।’ अर्थात् वेणु जिसके पास है (वेणुधारी) अर्थ न सिद्ध हो कर उस

परिव्राजक के लिए यह अर्थ सिद्ध होगा जो उपदेश देता है कि काम मत करो, काम मत करो शान्ति ही तुम्हारे लिए उपयुक्त है।” कैयट के ग्रन्थ से भी यही अभिप्राय स्पष्ट होता है। ‘अयं माकृत अपमाकृत्येयुपकम्य शान्तिः काम्य कर्म पदार्थियुष्माकम् श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करियुच्यते। (प्रदीप)।” काशिका वृत्ति में भी इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। या + कृ + इन् (ताच्छील्ये) = मकराशील अर्थात् अकर्मयतावासी या नियति वासी। अतः मकखलि (मस्करि) का नाम स्वयं उसके सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है।

जीवन वृत्त : अन्य बातों पर विचार करने से पूर्व मकखलि के जीवन के विषय में विचार करना अधिक उपयुक्त होगा। जैन और बौद्ध ग्रन्थों में उसके जीवन क बारे में उल्लेख प्राप्त होता है। ‘उवासंगदसाओ’ ‘भगवती सूत्र’ और ‘त्रिपिटिको’ में जीवन वृत्त के विवरण से हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इसका पिता भी मस्करि था। माता का नाम भद्रा था। दोनों भिक्षा के द्वारा ही अपना पालन पोषण करते थे। गोबहुल नामक ब्राह्मण की गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसे ‘गोशाल’ कहा जाने लगा। यह भगव का निवासी तथा अत्यन्त मेधावी था। महावीर से पहली बार यह नालन्दा में मिला और दोनों छह माल तथा कठोर तप करते हुए ‘कोल्लाग’ के पास ‘पुण्यभूमि’ में रहे। महावीर का गोशाल पर बड़ा स्नेह था। वह महावीर का प्रथम शिष्य भी था। कालान्तर में दोनों में मतभेद हो गया और एक दूसरे के कटु आलोचक हो गए। यहाँ तक कि दोनों में एक बार शस्त्रार्थ भी हुआ।

गोशाल का अपने मत प्रसार का कन्द्र प्रमुखतः श्रावस्ती था। यहाँ ‘हलाहला’ नामक सम्पन्न कुम्हारिन के यहाँ रह कर उसकी सहायता से उसने अपना मत फैलाया। कुछ ही समय में गोशाल का प्रभाव बहुत बढ़ गया। प्रसेनजित का पूर्वोक्त वाक्य इसका प्रमाण है। अपने मत की स्थिर नींव जमा कर महावीर के केवल्य से १६ वर्ष पूर्व उसका देहावसान हो गया।

सिद्धान्त : मुख्यतः वह दैव-वादी था। उसका

कहना था कि "जो नहीं होना है वह नहीं होगा। जो होना है वह अवश्य होता है। यदि भाग्य न हो तो हाथ आईं वस्तु नष्ट हो जाती है। नियति के ही बल पर शुभ और अशुभ हुआ करता है। मनुष्य का यथासाध्य प्रयत्न होनहार को नहीं डाल सकता।" डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के मतानुसार शारीरिक क्लेश, अचेतक-धर्म और रहन-सहन के ढंग में इनका जनों से कोई विरोध नहीं था। महावीर से इनका विरोध केवल निम्नलिखित बातों पर था। १. शीतल जल का उपयोग। २. विशेष रूप से निर्मित अन्न और भोजन को प्रदण करना ३. स्त्री समागम।

गोशाल के छः प्रधान शिष्य थे। ज्ञान, कलन्द, कर्णिकार, अचिद्ध, अमित्रैरयापन और गोमायुपुत्र अर्जुन। इन्हीं शिष्यों ने गोशाल को सहाय्य देकर उसके मत का पूर्ण प्रचार किया। 'चूर्णिकार' का कहना है कि यह सभी पहले तो महावीर के शिष्य थे बाद में जैन-धर्म के विरोधी हो कर गोशाल से मिल गए तथा स्वयं को भी जिन कहने लगे। इन्होंने अपने गुरु के चरित का अनुशीलन कर 'अष्ट चरमवाद' का प्रचार किया। (१) चरम पान (२) चरम गान (३) चरम नाट्य (४) चरम अत्रि कर्म (५) चरम पुष्कर संवर्तक महा-मेघ (६) चरम सेचनक गन्धहस्ती (७) चरम महाशिला कण्टक संग्राम (८) चरम तीर्थंकर।

डा० बलदेव उपाध्याय के अनुसार शीघ्र निकाय सिद्धान्तों को इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि सत्त्वों के क्लेश का हेतु नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने भी कुछ नहीं कर सकते पराए भी कुछ नहीं कर सकते। बल नहीं है, वीर्य नहीं है पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, सभी प्राण, सभी भूत और सभी जीव अपने में नहीं है। निर्बल, निर्वीर्य भाग्य और संयोग के फेर से छः जातियों में उत्पन्न हो कर सुख या दुःख का भोगते हैं। सुख और दुःख द्रोण (माप) से तुले हैं। संसार में घटना, बढ़ना, उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है। वैसे ही परिणत और मूर्ख दौड़ कर आवागमन में पड़ कर दुःख का अन्त करेंगे।

महावीर के विरोध में गोशाल की युक्ति थी जैसे

वणिक लाभार्थी होकर, अपना भारण प्रदर्शित करके माल बेचने के लिए भीड़ एकत्रित कर लेता है। इसी कारण श्रमण ज्ञातुपुत्र करते हैं। गोशाल की दूसरी युक्ति थी "महावीर इसलिए जनता में आने से डरते हैं कि कोई विद्वान् भिक्षु उनसे प्रश्न न पूछ लें।" दूसरी और जैन ग्रन्थों में ग्रन्थकार गोशाल की कटु आलोचना करके हुए कहते थे, 'गोशाल ने अपने भिक्षुओं को स्त्री-समागम की छूट दे दी है।' महात्मा बुद्ध ने भी आजीवकों की गणना ब्रह्मचर्य में ध्यान न देनेवाले समाजों में की है।

प्रसार : यह सम्प्रदाय आवस्ती में उत्पन्न हुआ और निश्चित उल्लेखों के आधार पर १०० शताब्दी ईसा तक देश के भिन्न भिन्न भूभाग में फैलता रहा। अशोक के शिलालेखों में आजीवकों को गुफा-पान करने का उल्लेख है। अशोक के पौत्र दशरथ ने भी नागार्जुनीय पहाड़ियों के समीप अनेक गुफाएँ आजीवकों को दी। इसके वाम 'जानकी हरण' महाकाव्य के लेखक कुमार-दास ने भी एक श्लोक में रावण की उपमा आजीवकों से दी है :

“दम्भाजीवकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम्।

कश्चिनमस्करिण्यं सीता ददश्राभमागतम्॥”

जानकीहरण १०-६

‘हर्षचरित सार’ में भी दो बार इनका उल्लेख आया है। एक तो गूढ़ संघर्षों के रूप में पौंचवें उल्लास में और दूसरी बार आठवें सर्ग में दिवाकर आश्रम के वर्णन में। पौंचवें उल्लास में २१ सम्प्रदायों का उल्लेख आया है, चार के तो नाम स्पष्ट दे दिए हैं और १७ बिना नामों के केवल श्लेष द्वारा संकेतों से बोधगम्य हैं। ‘हर्षचरित’ में आजीवकों के लिए मस्करी शब्द का तो प्रयोग है ही, साथ ही उन्हें पाण्डुरि भिक्षु भी कहा गया है। निश्चित चूर्ण के अन्तसार आजीवकों को पाण्डुरि-भिक्षु कहा है जाता था। पर ‘हर्षचरित सार’ एक सांस्कृतिक अध्ययन में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने दोनों को पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय माना जो है अभीचीन नहीं है। यह दोनों ही आजीवक के पर्याय ही हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसी ग्रन्थ में ‘हर्षचरित’ की निम्न लिखित पंक्ति का अर्थ करके हुए पाण्डुरि भिक्षु की विशेषताओं का उल्लेख किया है।

“क्वचिद् विन्ध्योपत्यकासु वनकरिकुलकर,
श्रीकरासारसिन्धुमानतनवः पल्लवशयिनशयनः
संतापम् अशमयन् ।”

(अ) कुछ विन्ध्याचल पर्वत के जंगलों में पत्तों पर सोकर अपना संताप मिटाने लगे ।

(आ) सम्प्रदाय के पक्ष में यहाँ पारङ्गुरि भिक्षुओं से तात्पर्य ज्ञात होता है । जो पढ़ने शयनादि के लिए पल्लव अर्थात् श्वेत दुकूल-वस्त्रों का प्रयोग करते थे । ज्ञात होता है कि वह ठाठ-बाट से रहनेवाले मद्दन्त थे जो हाथी आदि भी रखते थे ।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि हर्ष के समय भी आजीवकों का बहुत प्रभाव था । पर्याप्त धनी होंगे तभी तो ठाठ-बाट का रहन-सहन और हाथी की सम्भावना की जा सकती है ।

डा० कृष्णकान्त हन्डीकी ने अपने ग्रन्थ ‘Yasastilak and Indian Cultur’ में आजीवकों का उल्लेख करते हुए कहा है कि सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू १० वीं शताब्दी ईसा-पश्चात् में जैनो को आजीवकों में सावधान रहने के लिए कहा है । अर्थात् यह धर्म ईसा पूर्व ५०० से लेकर १००० ई. पश्चात् तक तो निश्चित रूप से था ही इसके बाद यह धर्म कैसे एकदम लुप्त हो गया इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

इसका प्रचार दक्षिण भारत में भी पर्याप्त मात्रा में हुआ था । तत्कालीन धर्म-ग्रन्थों में इसका उल्लेख है । तमिल महाकाव्य ‘मणिमेखलाई’ में इसका उल्लेख है । ‘शिल्पदिकारम्’ कृष्ण की काव्य की नाविका के पिता ने आजीवकों को धन बोटने का आदेश दिया था ।

पचपेढ़ी, जबलपुर
मध्य-प्रदेश

इससे यह तो स्पष्ट ही है कि इसका प्रचार वहाँ पर्याप्त मात्रा में था । सोमदेव ने इसके सिद्धान्तों का तो उल्लेख नहीं किया है पर केवल नाम मात्र उद्धृत कर देने से तत्कालीन व्यवस्था तो सिद्ध हो ही जाती है ।

मूल्यांकन : यह उन धर्मों से था जो व्यक्तिगत विद्वेषों से उत्पन्न हुए थे । साथ ही इसके सिद्धान्त भी भारतीय मनोवृत्तियों के अनुकूल न होने के कारण यह प्रास्य नहीं रहा । भारतीय परम्परा नियति को महत्व देती है पर केवल उसी सीमा तक जहाँ तक कि वह मनुष्य को अकर्मरयन न बना दे । कल के प्रति अनासक्ति तो विचारणीय बात है पर कर्म के प्रति अनासक्ति सर्वथा निन्दनीय है । गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

“कर्मस्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।”

तार्किक दृष्टि से विचार करने पर तो नियतिवादियों ने स्वयं भी अपने सिद्धान्त का पालन नहीं किया । यदि नियति ही सभी कुछ है तब ‘अष्टचरमवाद’ आदि के माध्यम से अपना प्रचार करने की क्या आवश्यकता थी । यदि प्रचार होना होता तो स्वतः ही हो जाता । इनके मतानुसार तो प्रचार करने की आवश्यकता ही नहीं थी । यदि कोई समाज ऐसी वृत्ति अपना ले तो उसकी संस्कृति की क्या गति होगी । विद्वानों की भी महत्ता यहाँ पर नहीं रहेगी । भारत एक प्रकार से अनेक मतमतान्तरों की परीक्षण भूमि रही है । यदि किसी मत में वास्तविकता का अंश रहा तो जनता ने उसे स्वीकार किया, अन्यथा इस नियतिवाद के समान न जाने कितने मतमतान्तर खरी कसौटी में कसे जाते ही निरर्थक और मूल्य हीन सिद्ध हो गए । इसलिए आज उनका कोई भी स्वरूप हमारे सामने नहीं है ।

—कृष्णकान्त चतुर्वेदी

द्वारा : सम्माननीय न्यायमूर्ति श्री नायक

संसार में ऐसे कलाकाल हैं जो कि सूर्य को एक निर्जीव पीले रंग की आकृति-मात्र बना देते हैं;

और संसार में ऐसे कलाकार भी हैं जो कि एक निर्जीव पीले रंग की आकृति को सजीव सूर्य बना देते हैं ।

—पिकासो

भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन की पृष्ठभूमि

संसार में दर्शनशास्त्रों की सर्वप्रथम उद्भावना भारत में ही हुई थी। यहीं से विश्व के अन्य प्राचीन सभ्य देशों में दार्शनिक विचारों की पहुँच हुई। इस तथ्य को विदेशी विद्वान् भी मानते हैं। जर्मन दार्शनिक सेजेल का कथन है कि हिन्दू दर्शन के मूलभूत आत्मा के दूसरे शरीर प्रदण करने का अर्थात् पुनर्जन्म का तत्त्व यूनानी दार्शनिक पीथागोरस भारत से ही यूनान ले गए थे। मानियर विलियम्स का भी कथन है कि यूरोप के प्रथम दार्शनिक प्लेटो तथा पीथागोरस—दोनों ही दार्शनिक ज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों के सर्वथा ऋणी हैं, किन्तु दर्शनशास्त्र के मूल तत्त्व के सम्बन्ध में यूरोप यद्यपि भारत का ऋणी है, तथापि सोचने-विचारने की शक्ति एम-सी न होने के कारण समय पाकर यूरोप तथा भारत के दर्शन में बहुत अन्तर हो गया है। यद्यपि पदार्थ मात्र का ज्ञान प्राप्त करना दर्शनशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है, किन्तु उस ज्ञान का प्रयोग किस विषय में, किस भाव से करना चाहिए, इसी सम्बन्ध में यूरोप और भारत के बीच मतभेद है। यही कारण है कि भारत का दर्शन-शास्त्र कहने से इस समय हम जो समझते हैं, यूरोप में 'फिलासफी' शब्द का ठीक वही अर्थ नहीं है। हमारे दर्शनशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान-लाभ है, वह ज्ञान, जिससे निःश्रेयस या मोक्ष मिलता है, जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर फिर कभी जरा और जन्म-मृत्यु के चंगुल में नहीं फँसना पड़ता; वह ज्ञान जिससे आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति होने के फल स्वरूप आत्मा को चिर सुख और चिर शान्ति प्राप्त होती है, किन्तु यूरोप की फिलासफी में समाज-नीति, अर्थ-नीति, धर्म-नीति और प्रकृति-विज्ञान सब का समावेश है।

भारतीय दर्शनशास्त्र का मत है कि यह संसार दुःख निवास है। मनुष्य जितना ही सुख पाने की चेष्टा करता है, प्रकृति उतनी ही उसमें बाधक होती है। प्रकृति के साथ जैसे मनुष्य का द्वन्द्व बराबर चलता रहता है। इस जन्म में तो यह द्वन्द्व समाप्त ही नहीं होता, कर्मवश जन्म-मरणान्तर तक मनुष्य इसी द्वन्द्व में फँसा रहता है। इस द्वन्द्व में, इस खींचतान के

संघर्ष में विजय प्राप्त करना हो तो मनुष्य को प्रकृति के साथ कोई सम्बन्ध न रखने की चेष्टा करना चाहिए; धीरे-धीरे इस सम्बन्ध-विच्छेद का प्रयत्न करना चाहिए। इस द्वन्द्व में विजय दिलाने वाला अमोघ ब्रह्मास्त्र केवल ज्ञान ही है। ज्ञान के अस्त्र से प्रकृति के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न कर पाते ही आत्मा को मुक्ति मिल जाती है। हिन्दु दर्शनों का यही सिद्धान्त तथा सारांश है, किन्तु यूरोप के दर्शन या फिलासफी का उद्देश्य प्रकृति के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है। प्रकृति के गूढ़ तत्वों का आविष्कार करके प्रकृति के बल से इस जीव को सुख पहुँचाना ही पाश्चात्य दार्शनिकों का मुख्य लक्ष्य है। इसी दृष्टिकोण के कारण पश्चिम में जड़-विज्ञान की इतनी उत्पत्ति हुई, हो रही है। पश्चिम के निवासी प्रकृति को अपने वश में कर के अपने लिए ऐहलौकिक सुख के साधन और सामग्री के जुटाने में व्यस्त रहते हैं। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप अनेक अद्भुत आविष्कार करके पश्चिम के वैज्ञानिकों ने संसार को चकित कर दिया है और संसार में भौतिक आवश्यकताओं की सामग्रियों में वृद्धि कर दी है। यूरोप के भिन्न देशों में विभिन्न कालों में अनेक दार्शनिक विद्वान् उत्पन्न हुए हैं, जिनमें प्राचीन यूनान में सुकरात, अरस्तू, प्लेटो, पीथागोरस, जर्मनी के कान्ट, शेजेल, शोपेन हार, फ्रांस के कोम्ट और इंग्लैण्ड के बेकन, जॉन स्टुअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, लोक, हैमिल्टन, ह्यूम और बर्केले आदि दार्शनिक विशेष प्रसिद्ध हैं। इन सबका मत एक नहीं है। समय-समय पर एक के मत का प्रतिवाद या खराबन दूसरे ने किया है। स्थूल रूप से जो मत यूरोप में प्रचलित हैं, उसका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया गया है, किन्तु पाश्चात्य दर्शन की मुख्य विभिन्न विचार-धाराओं का दिग्दर्शन कराए बिना उसके भारतीय दर्शनशास्त्र से पृथक्त्व का स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता। अतएव यूरोप के प्रमुख सुप्रसिद्ध विद्वानों के विचारों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक है। पाश्चात्य देशों में आरम्भ में फिलासफी शब्द का व्यवहार व्यवहार बौद्धिक संस्कार के लिए ज्ञानार्जन के हेतु आन्तरिक जिज्ञासा के लिए

हुआ है। हेरोडोटस तथा थ्यूरीडाइड्स ने इसी व्यापक अर्थ में दर्शन का व्यावहारिक किया है। ज्ञान के वे सभी क्षेत्र में जहाँ सत्य के अन्वेषण में मानव गतिशील रहा है, दर्शन के अन्तर्गत आ गए हैं। सर्वप्रथम पीथागोरस ने दर्शन का निश्चित अर्थ किया। उनका कहना है— “ज्ञान मानवीय सम्पत्ति नहीं है, ईश्वरीय देन है। मानव के लिए ज्ञान की जिज्ञासा ही पर्याप्त है।” सुकरात के समय तक दार्शनिक सन्त या सूफ़ी कहलाते थे। उनका ज्ञान पूर्णतया व्यवहारिक और बाह्य संसार तक ही सीमित था। सृष्टि-क्रम या जीवन-क्रम की व्याख्या उन्होंने तत्वों, अणुओं और अंकों में करने का प्रयास किया।

पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में सुकरात ने क्रान्ति ला दी और दर्शन को प्रकृति के अन्वेषण से हटाकर मानव के अध्ययन में नियोजित किया। उसके विचार में विज्ञान का लक्ष्य वस्तु विशेष के अध्ययन और विवेचन से उसमें निहित सनातन तत्त्व का पता लगाना है। उसने दर्शन को विश्व-विवेचन से विलग कर उसे राजनीतिक तथा नीतिक समस्याओं के दल में लगाया।

सुकरात की पद्धति का विकास प्लेटो की द्वन्द्वात्मक पद्धति और अरस्तू की न्याय-पद्धति में हुआ है और यह अन्तिम पद्धति मध्य युग से चली आ रही है। प्लेटो तथा अरस्तू की विचार-शृंखला में दर्शन की व्यापकता बढ़ गई। उनके विचार में न तो नैतिक या भौतिक विज्ञान ही है और न सभी विज्ञानों का संकलन ही। यह सभी विज्ञानों से व्यापक सच्चा विज्ञान है। प्लेटो के विचार में दर्शन सत्य ज्ञान की प्राप्ति है—अखण्ड, अनन्य, चिन्मय तत्त्व का ज्ञान ही नहीं है, अपितु उस व्यापक तत्त्व की, समष्टि की अनुभूति भी है, जिसमें जीवन और विचार के सभी सिद्धान्त एकीभूत हो जाते हैं। अरस्तू ने दर्शन को समस्त ज्ञान-विज्ञान का मापक कहा है। दर्शन में उसके तीन प्रकार के विज्ञान अन्तर्भूत माने हैं—आनुमानिक, व्यावहारिक और कलात्मक। उसने दर्शन का लक्ष्य चिरन्तन सत्य की अनुभूति, सृष्टि के मूल तत्त्व का उन्मेष माना है।

स्टोइक दार्शनिकों के समय में दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त स्थिर रहे, किन्तु उनकी व्याख्या में स्थूलता और बोधगम्यता आ गई। उनके मतानुसार लौकिक

तथ्यों के ज्ञान-दर्शन के विषय है, किन्तु सुकरात की भीमति उन्होंने दर्शन के तत्वों को आचार-व्यवहार की कसौटी पर कसने की चेष्टा की। इपिक्यूरस ने दर्शन को और भी अधिक व्यावहारिक रूप दिया। उन्होंने दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा कि दर्शन-तत्वों तथा सिद्धान्तों के द्वारा आनन्दमय जीवन की अनुभूति की प्रक्रिया है।

यूनान दर्शन के अन्तिम काल में एक प्रकार की रहस्य-भावना का प्राबल्य हुआ, जो कभी-कभी अन्ध-विश्वास में परिणत हो जाती है। यूनानी भावनाएँ प्राच्य आदर्शों के सम्पर्क में आई और सिकन्दरिया में दोनों का समन्वय हुआ है। इसी समय प्लाटिनस ने प्लेटो के सिद्धान्तों का कायाकल्प कर भावातिरेक के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति पर बल दिया और विज्ञान को दन्तकथाओं के जाल में उलझने की चेष्टा की गई। यह स्पष्ट है कि यूनानी लोगों ने दर्शन की बोधगम्य व्याख्या नहीं की। अतः इन भिन्न व्याख्याओं से यूनानी दर्शन की कोई सावैज्ञानिक रूपरेखा प्रस्तुत नहीं हुई।

मध्ययुग के दर्शन में तर्क और विश्वास के एकीकरण का निदर्शन है। इसा के प्रारम्भिक शताब्दियों में दर्शन में रुढ़ियों का समावेश हुआ। मध्य-युगीन दार्शनिकों ने तर्क और विश्वास का एकीकरण का पुरतन विज्ञान एवं नूतन धर्म का समन्वय किया, किन्तु टामस ऐक्वीनस ने तर्क तथा विश्वास में विभेद किया है। तर्क मनुष्य को विश्वास तक पहुँचाता है। लावण्य प्रकृति को कुशिलत नहीं करता, अलंकृत करता है। विश्वास-जनित सत्य तर्क से की बहुल है। तर्क ईश्वर के ऐक्य को सिद्ध कर सकता है, किन्तु त्रैत को नहीं। ओस्माम ने, जो चौदहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ, बतलाया कि प्रत्येक वस्तु, जो तर्क तथा अनुभूति से परे हैं, विश्वासपरक है। साथ-साथ रहस्यवादियों का दावा था कि ईश्वर के प्रति जीव की विशुद्ध अनुरक्ति में तर्क का कोई स्थान नहीं है।

अर्वाचीन दर्शन, जिसका प्रारम्भ बेकन और डेकार्टे से होता है, अपने उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों में प्राचीन दर्शन से भिन्न नहीं है। डेकार्टे की प्रणाली व्यापक है और अपने समय की सभी वैज्ञानिक अनुभूतियों को आत्मसात् कर लिया है। प्राचीन दार्शनिक वस्तु कानिरीक्षण करते थे, चतुर्दिक् व्यापी विश्व का

अध्ययन करते थे और उनसे उत्पन्न विचारों को प्रहण कर अपने अनुमानों से सन्तुष्ट रहते थे। अर्वाचीन दार्शनिक ज्ञान की ओर दृष्टिपात करता है। वेकन ने भी सत्य के अनुसन्धान के लिए अपने पूर्वागामी दार्शनिकों की तर्क-पद्धति का विश्लेषण किया है। डेकार्टे और भी आगे बढ़ता है तथा सन्देह की बुनियाद पर ही अपने दर्शन को आश्रित करता है।

लौक और उनके अनुयायियों के लिए दर्शन मानव-ज्ञान का विवेचनात्मक विश्लेषण है। वेकन और डेकार्टे के साथ दर्शन ने पाचीनों द्वारा प्रतिपादित व्यापकता नहीं छोड़े, किन्तु अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों ने इसे दूसरे विज्ञानों से विलग कर एक विशेष विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया। लौक के लिए दर्शन मानव-ज्ञान का अध्ययन बन गया। बर्केले तथा ह्यूम के लिए मानव-स्वभाव का अध्ययन और कैम्ब्रिज के लिए चेतना और चेतना के विश्लेषण का अध्ययन। फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अन्त और षष्ठीमवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दर्शन, विज्ञान माना जाने लगा; क्योंकि इस में वस्तु के विकास की समस्या के स्थान पर ज्ञान के विकास की समस्या का विवेचन है। अतः दर्शन अब एक आदर्श बन गया।

कान्ट के युग में दर्शन की वस्तु और लक्ष्य दोनों की उच्च धारणा का पुनर्स्थान हुआ। व्यापक विज्ञान के पुरातन आदर्श तथा ज्ञान के विवेचन और विश्लेषण से उत्पन्न परिमित विज्ञान के नूतन आदर्श के समन्वय का प्रयास हुआ। कान्ट ने आरंभ अनुमितिवाद और डेकार्टे की गणित-सुलभ रुढ़ियों—दोनों का विरोध किया।

संक्षेप में कान्ट ने दर्शन को विवेचनात्मक विश्लेषण और धर्मशास्त्र तक ही सीमित रखा है और इसे इच्छा तथा ज्ञान के प्रेरक नियमों का विश्लेषण माना है। लौक जहाँ चेतना—तत्त्व को ही दर्शन का अर्थ मानता है, वहाँ कान्ट प्रेरक नियमों से इसकी व्याख्या कर इसे मूल विज्ञान मानता है। लौक अनुभूति तक ही सीमित है और चेतना की वैयक्तिक अनुभूति से आगे नहीं बढ़ पाता। कान्ट भी चेतना के माध्यम से बढ़ता है, किन्तु उस का वृक्ष अनुभूति की परिस्थितियों का अनुसन्धान है। मानव-ज्ञान दोनों दार्शनिकों का लक्ष्य है, किन्तु एक अनुमितिवादी है, दूसरा विशुद्ध

ज्ञानवादी।

कान्ट की भौति क्रिस्टो की परिभाषा ने भी दर्शन को एक निश्चित रूप दिया, किन्तु इस परिभाषा में दर्शन विशुद्ध आत्मवादी हो गया है। कान्ट ने दर्शन का अर्थ ज्ञान का विवेचन लिया। क्रिस्टो ने दर्शन का अर्थ 'अहं' का क्रमबद्ध विकास किया। शिलींग का कथन है कि आत्मा और ब्रह्म, प्रकृति तथा पुरुष चित्स्वरूप में जाकर एकाकार हो जाते हैं और इस ऐक्य को हम बौद्धिक सहज ज्ञान से जान सकते हैं। दर्शन ऐक्य के दोनों पहलुओं को विकसित करता है और इस प्रकार दो विज्ञानों का निर्धारण करता है।

हीगेल ने शिलींग के ऐक्य दर्शन को मान लिया, किन्तु उसको अधिक वैज्ञानिक और निश्चित रूप देने का प्रयास किया। उसका कथन है कि एक छोर पर सत्य और दूसरे पर मस्तिष्क नहीं है, एक छोर पर दृश्य और दूसरे पर द्रष्टा नहीं है। केवल विचार की अवस्थिति है, जो वस्तु को सत्य तथा वास्तविकता प्रदान करता है। इन विचारों के निदान्त और रूप ही अनिवार्य व्यापक नियम हैं तथा द्वन्द्वात्मक विकास ही वस्तुओं का इतिहास ही वस्तुओं का इतिहास है। नूँफि विचार निरपेक्ष हैं, अतः दर्शन: सभी सत्य विचारों का निर्धारण है, इस प्रकार अतन चरम-सत्य का विचार है, सत्य अस्मानुभूति है।

जब कान्ट और उसके अनुयायी दर्शन की महत्ता विज्ञान की भौति प्रतिपादित कर रहे थे, स्काच दार्शनिक रीड और डुगलड स्टीवार्ट की लौक की तरह दर्शन को मूल विज्ञान न मान कर उसे मनोविज्ञान-मात्र मान रहे थे।

षष्ठीमवीं शताब्दी के प्रारम्भ में द्वन्द्वात्मक या आध्यात्मिक वर्ग के दार्शनिकों का विकास हुआ। इसके संस्थापक कौलार्ड तथा पोषक विक्टर कजिन और ज्याक्रे थे। कजिन हीगेल की भौति दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान ही नहीं मानता, अपितु विचारों का ऐसा न्क्तिन मानता है, जिसमें सत्य के सभी तत्व विद्यमान हैं। अतः दर्शन विचारों के सम्पूर्ण क्षेत्र, उसके सभी रूप और उसकी सभी धारणाओं का विज्ञान बन जाता है। यह सत्य के व्यापक और आवश्यक तत्वों को आत्मसात् कर लेता है। यह तर्क की प्रणाली ही नहीं रह जाता, अध्यात्म ज्ञान हो जाता है।

वस्तुवादियों ने दर्शन की प्रणाली का ही विरोध किया है। उनका कथन है कि प्रत्येक वस्तु, जो निश्चित से परे है, मानव-मस्तिष्क के लिए अगम्य है। सत्य और नसके नियम, दृश्य तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध ही मानव-मस्तिष्क के विषय हैं।

अन्ततः आधुनिक दार्शनिक के परिणाम स्वरूप दो धारणाएँ निश्चित हो सकी हैं—प्रथम यह कि दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है, विचारों के मौखिक नियमों का विज्ञान है, द्वितीय यह कि दर्शन मानव-मस्तिष्क का विज्ञान है। अन्य विज्ञानों से यह दो बातों में भिन्न है : (१) चेतना तत्त्व, जहाँ दृश्य-द्रष्टा में विभेद है और जहाँ मनोविज्ञान की अवस्थिति है। (२) व्यापक तत्त्व या ऐक्य तत्त्व, जिधर सभी विज्ञान सम्मुख हैं अर्थात् आध्यात्म शास्त्र। दो शताब्दियों तक दर्शनशास्त्र इन दो दृष्टिकोणों के बीच टकराता रहा है। उनके समन्वय के अनेक प्रयत्न हुए हैं। कान्ट ने मस्तिष्क के विवेचन से मौखिक नियम प्रतिपादित किए। विकटर कजिन ने इन नियमों को चेतना के नियम माना। वगन ने क्रिस्टो की भाँति 'अहं' के विश्लेषण से उन नियमों को प्रतिपादित किया। वस्तुतः इन दोनों धारणाओं में अविच्छेद्य सम्बन्ध है; क्योंकि प्रत्येक महान् दार्शनिक की अपनी एक आध्यात्म शास्त्र की शृंखला भी है और एक मनोविज्ञान की शृंखला भी। फिर भी पश्चिम में दर्शन का स्वतन्त्र विकास नहीं हुआ। मध्ययुग में यह धर्म के आश्रित रहा, लेकिन और न्यूटन की विचारधारा में प्रकृति-विज्ञान के आश्रित रहा तथा उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों के चिन्तन में इतिहास, राजनीति और समाज-नीति के आश्रित। आधुनिक 'पाश्चात्य चिन्तो-न्मुख है और जीवन के सभी व्यापक क्षेत्रों का वैज्ञानिक विश्लेषण ही उसका लक्ष्य है।

भारतीय दर्शन के साथ पाश्चात्य दर्शन का जो पृथक्त्व दृष्टिगोचर होता है, उस पार्थक्य का प्रधान कारण प्रमाण-विषयक ज्ञान का भेद या तारतम्य ही है। पदार्थ का निरूपण प्रमाण की अपेक्षा रखता है। इसी कारण पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के सम्बन्ध में दर्शनकारों ने प्रमाण का उल्लेख किया है। वैशेषिक

मत में प्रमाण दो प्रकार के हैं। सांख्य के मतानुसार तीन प्रकार के हैं। न्याय के मत में चार प्रकार के हैं। मीमांसा के मत में पांच प्रकार के और वेदान्त के मत में छः प्रकार के हैं। पुराणों के अनुसार आठ प्रकार के प्रमाण माने जाते हैं। निरीश्वर चार्वाक दो से अधिक प्रमाण स्वीकार नहीं करते। यूरोप के दार्शनिकों ने भी घूम फिर कर चार्वाक के मत का अनुसरण किया है। चार्वाक मतानुसारी लोग प्रत्यक्ष और अनुमान—इन्हीं दो प्रमाणों के क़ायल हैं। वैशेषिक कणाद का भी स्थूल रूप से यही मत है। सांख्यकार कपिल, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीन को प्रमाण मानते हैं। नैयायिक लोग इन तीन प्रमाणों के अतिरिक्त उपमान को भी चौथा प्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसा वाले इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी पांचवाँ प्रमाण मानते हैं। वेदान्ती लोग इन पाँच के अतिरिक्त अनुपलब्धि को भी प्रमाण की कीटि में गिनते हैं। पौगण्डिक लोग इन छः प्रमाणों के साथ सम्भव और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानते हैं। सभी प्रमाणों का मूल है : प्रत्यक्ष प्रमाण। प्रत्यक्ष से ही अनुमान आदि अन्य प्रमाणों की उत्पत्ति और उपपत्ति होती है। जो लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्त्व में चित्त लगाने में पारदर्शी हैं, वे आध्यात्मिक जगत् में उन्नतिशील हैं और जो लोग केवल इंद्रियों से प्राप्त बाहरी विषयों के प्रमाण को ही प्रमाण मानते हैं, वे बाहरी विषयों को अर्थात् जब जगत् में उन्नतिशील हैं। भारतीय संस्कृति और कलाओं तथा विभिन्न विचार धाराओं में भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकता की चिरन्तन रूप से छाप रही है, जबकि पाश्चात्य सभ्यता, कलाओं तथा विचार विचार-जगत् में वहाँ के भौतिकवादी दर्शन का प्रभाव पाया जाता है, जो कि विज्ञान को ही मानव-सुख का आधार मूल तत्त्व स्वीकार करता है, जो विश्व-शान्ति के लिए सदैव खतरे में डालता रहा है। भारतीय दर्शन का लक्ष्य अपने जन्म से ही मानव-जीवन को शान्ति तथा कल्याण की ओर ले जाने वाला विश्व-शान्ति की प्रेरक शक्ति रहा है।

चित्रकला भवन, डिडवाना झोली,
लखनऊ (मालियर)

—गीतेशंकर ओझा

मध्ययुग में भारतीय श्रृङ्गार-साधन

कलात्मक विकास किसी जाति के भाग्य में सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़ कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके। पर इतना ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति ऐसी दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए, जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रियवृत्ति को एवं उसके बाध्यार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो। उस जाति की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विशाल और उदार आत्ममर्यादा को समस्त दुनियावी सुख-सुविधाओं से श्रेष्ठ समझता हो और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुन्दर को बरदाश्त न कर सकता हो। भारतवर्ष में एक ऐसा समय मीठा है, जब इस देश के निवासियों के जीवन में पौरुष था, कोलीन्य गवै था और सुन्दर के रसण, पोषण, और सम्मानन का सामर्थ्य था।^१

और वह समय है, स्वर्णाक्षरों से अभिलिखित इसके इतिहास का मध्ययुग। मध्ययुग में भारतीयों ने अपनी सभ्यता एवं सांस्कृतिक चेतना का महत्तम स्तर पर विकास किया जो बाद में स्वप्न-दर्शन मात्र रह गया। मध्ययुग की सीमा-रेखा, में आदिकवि वाल्मीकि से लेकर परिहतराज जगन्नाथ तक मानता हूँ। पुष्ट प्रमाणों के आधार पर प्रमाणित है कि वाल्मीकि का आविर्भाव आज में करीब तीन हजार वर्ष पूर्व हुआ। यानी बुद्ध के अवतार के भी पाँच सौ वर्ष पूर्व। ऐतिहासिक परिवर्तनों पर दृष्टिपात करने पर इसका समर्थन भी हो जाता है। 'दशरथ-जातक' में संक्षेप में रामायण की मूल कथा का वर्णन उपलब्ध होता है जिसका समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः यह निर्विवाद है कि विक्रमपूर्व तृतीय शतक तक राम-कथा का प्रचलन हो चुका था। बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी राम कथा का मर्यादा पुरस्कोतम के रूप में स्मरण किया जाता है और जैनकवि विमलसूरी ने अपने प्राकृतकाव्य 'पद्मचरिय' में राम

कथा का स्मरण किया है। फिर वाल्मीकीय रामायण में जिन स्थान विशेषों का उल्लेख पाया जाता है, उनकी वर्णनानुकूल स्थिति बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही पाई जाती है। उदाहरण के लिए बालकाण्ड के ५० वें सर्ग में श्रीराम के गंगा पार कर शृंगवेरपुर जाने का उल्लेख मिलता है। पाटलीपुत्र की स्थापना बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने ५०० ईस्वी पूर्व की थी। यदि वाल्मीकि के प्रादुर्भाव तक यह स्थापना हो गई होती तो शृंगवेरपुर जाते समय गुलाबों की मीनी सुगंध से मँदमँहाती पाटलीपुत्र नगरी में श्रीराम के रुकने का अवश्य उल्लेख होता। पर ऐसा नहीं पाया जाता। इसके अलावा बुद्ध के समय का वैशाली राज्य रामायण में दो स्वतन्त्र राज्यों—विशाला और मिथिला के रूप में उपलब्ध होता है। फिर दण्डकारण्य के खर-दूषण एवं उनके सहयोगी और कोई नहीं, दक्षिण भारत के अनार्य ही हैं। ये द्रविड़ जाति के लोग थे। आर्यों का इनसे बहुत काल तक संघर्ष होता रहा और उन्होंने उन्हें प्रभावित भी किया। श्रीराम और निशाचरराज विभीषण का परस्पर स्थापित मधुर सम्बन्ध प्रकाश भी डालता है। बुद्ध के समय तक इस स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका था। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ मिल्नु मिल्नुियों का सभी दिशाओं में निर्विरोध गमन इसके प्रमाण में यथेष्ट सिद्ध होगा। महापराडत पेद्द भट्ट के सुपुत्र और कश्मीरी ब्राह्मण-ममाज में अपने प्रखर पारिडल्य के लिए प्रख्यात परिडतराज जगन्नाथ शाहजहाँ के समकालीन थे, यह सर्वविदित है। शाहजहाँ के बाद मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही कला-संस्कृति की वह स्वर्णिम परम्परा भी विच्छिन्न हो गई।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध एक तथ्य पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए कि कवि वही अपने काव्य में निरूपित करता है, जो वह समाज के जीवन में देखता है। उसकी आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने वाली कल्पना का भी एक ठोस सामाजिक धरातल होना है।

इस दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का परिशीलन करने पर प्राचीन भारत की सुख-ममृद्धिमयी स्थिति का बड़ा भव्य चित्र-चित्रता है। संस्कृत जहाँ समष्टिगत चेतना का प्रति-निधित्व करती है वहाँ सभ्यता, शारीरिक विकास प्रसाधन एवं दैनंदिन जीवन का। संस्कृत कवियों ने इन दोनों को अपने काव्यों में तरलित कर दिया है।

यहाँ सभ्यता के सर्वप्रमुख अंग शृङ्गार-साधन को हम अपना विवेच्य विषय बना रहे हैं। इस विवेचना के आधारभूत उपादान हैं आदिकवि वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत कवियों के काव्यों में चित्रित सामाजिक जीवन और उसका व्यवहारिक विश्लेषण। चूंकि इस बीच भारतीय तार्किक दृष्टि से काफ़ी सम्पन्न रहे हैं अतः उनका विलासितामय जीवन आज की सरती विलासिता को चुनौती देता मालूम पड़ता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन पर दृष्टिपात करने पर उसके दो पहलू सामने आते हैं—नागरिक जीवन और ग्रामीण जीवन। संस्कृत कवियों के वर्णनों का मुख्य आधार नागरिक जीवन ही रहा है पर ग्रामीण जीवन भी एक दम उपेक्षित नहीं रहा है। काव्यों में प्रायः नख-शिख वर्णन के कारण नारी-सौन्दर्य का प्राधान्य रहा है अतः पहले उची के शृङ्गार-साधनों की चर्चा ज़्यादा समीचीन होगी।

सौन्दर्य में देवाङ्गनाओं को मात करनेवाली भारतीय ललनाओं को अपने केशों से स्वभाविक मोह रहा है। सौन्दर्य को प्रभावशाली बनाने में सघन, मसृण केशराशि का महत्व भी है। समुचित सेवा पाकर उनके केश कटिभाग से नीचे झूलते रहते थे। राजस्थानी और काँगड़ा शैली में निर्मित चित्रों में भूमि पर लोटती केश-राशि आकलन करती नायिकाओं के दर्शन महज ही प्राप्य हैं। काकुल मुकाने का आम प्रचलन था। 'व्यकेशान्त' (सुन्दर और घुँघराले बाल) सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। लोकप्रियता 'वचचावचतःप्रचूड' केश-विन्यास की ज़्यादा थी। इसमें कले केशों का भंगि-संकुल नागिन सा लहंगाता अवरोह मन को काफ़ी संतुष्टि प्रदान करने वाला था।

केशों में लगाया जाने वाला तेल काफ़ी सुगन्धित और कुमिनाशक होता था। यह प्रायः 'तीव्रसुरभि' वाले 'आमलक' से तैयार किया जाता था। तेल की मालिश धीरे-धीरे की जाती थी। उममेन केश टूटते थे, न पीड़ा ही होती थी। ब्रियाँ केशों में धूप लगाने का काम

बड़े शौक से करती थी। यह केश-धूम कई प्रकार से उत्पादित किया जाता था। विशेष कर 'कर्पूर-धूम' शुद्धि के लिये, 'अग्रुह-धूम' केश संस्कार के लिए और 'कस्तूरी-धूम' स्थायी सुवास के लिए उत्पादित किया जाता था। इससे केश मजबूत, काले और सुरभिमय बने रहते थे। धूप संस्कार से पहले स्त्रियाँ केशों को 'संचनिका' से सँवारती थीं फिर 'कूर्च' (ब्रश) से समरस करती थीं। 'कूर्च' मुलायम खड़े रोओ या कोमल तनु सीखों से तैयार किये जाते थे। संचनिका प्रायः हाथी-दँत की बनी होती थी। केश को उक्त स्थिति में सँवार लेने पर सजाया जात था। वेणी को छोड़ शेष भाग में पुष्प खोसे जाते थे। ये पुष्प प्रायः जूही, दुपहरिया, महुवा, कुवरक, मालती एवं रक्त कमल के होते थे। इनसे केशों को सुरभि तथा सौन्दर्य का नया उपादन मिल जाता था—

“धूरोधमणा त्याजिमाद्भवां
कशान्तमन्तः कुसुमं तथैवम् ।
पर्याक्षिप्तकाचिदुदारबन्धं
दूर्वावता पारदुमधुकदाभ्ना ॥”

× × ×
“केशाजितान्तघननीलविकुंचिताप्रा—
नापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः ॥”

काक्षिदास)

केशों को पीछे की ओर बाँधकर 'बन्ध' (खोपा) तैयार किया जाता था और मणिमालाओं से परिबद्धित किया जाता था। वेणी में जूही की कलिका एवं उन्हें मोती गुम्फित किए जाते थे। सुरभिमेदुर जूही तथा कमल-मुकल व गुम्फन का रिवाज तो आजकल उब गया, उनके स्थान पर पीपल तथा कचकड़े के फूल कल्प की सहायता से खोम जाते हैं। पर नैसर्गिक फूलों की ताजगी, सुरभि और प्राणवत्ता कहाँ ?

आजकल के स्नो-क्रीम की तरह पहले 'अनुलेपन' की प्रथा थी। इसमें त्वचा मुलायम और चिकवण रहती थी, साथ ही सुगन्धमय भी। चन्दन का अनुलेपन ज़्यादा पसन्द किया जाता था। इनमें उजला अनुलेपन श्वेत चन्दन से, लाल अनुलेपन कस्तूरी, अग्रुह, केशर और स्वच्छ मलाई से तैयार किया जाता था। सभी जानते हैं कि मलाई त्वचा पर मलने से वह मुलायम, चिकनी और साफ रहती है। कस्तूरी की सुरभि इसे

दूर-दूर तक फैलाने वाली एवं केशर तथा अश्रु की संयुक्त सुरभि उसे दूनी कर देने वाली होती थी।

अनुलेपन के पूर्ण सफल होने के लिए पहले उबटन की प्रक्रिया की जाती थी जिसमें बेसन और दधि का संयोग होता था। फिर 'अंगरग' लगाया जाता था, जिस प्रकार आजकल स्नो-क्रीम लगाने के बाद पाउडर की हल्की भूँसी जाती है। अंगराज फूलों के पराग और कर्पूर-चूर्ण से तैयार किया जाता था। कस्तूरी आदि का इसमें योग होता था। चम्पक-फूल के पराग की काव्यों में सर्वत्र चर्चा मिलती है।

काव्यों में जगद-जगद मुख की सुरभित वायु से भौरों के आकर्षित हो जाने का आख्यान मिलता है। इसके दो कारण हुआ करते थे: सुरभित दातून का प्रयोग अथवा सुगन्धित मदिरा का सेवन। दातून को सुरभित करने की एक विशेष प्रक्रिया होती थी। गोमूत्र को छान कर उसमें स्वस्थ हरे का चूर्ण घोल दिया जाता था और दातून को एक सप्ताह तक उसमें ही छोड़ दिया जाता था। इससे दातून पूरी तरह मुलायम और निर्दोष हो जाती थी। इस अवस्था में उसमें किसी प्रकार गन्ध नहीं होती थी। इसके बाद 'बृहत्संहिता' के अनुसार उसे एक विशिष्ट प्रकार के जल में कुछ समय तक डुबाकर रखा जाता था जो तेजपात, अंजन, एलायची मधु और मरिच के मिश्रण से सुगन्धित कर लिया जाता था। ऐसा करने में दो भावनाएँ काम करती होती थीं, एक तो यह कि इससे मुख सुरभि एवं नीरोग होगा, दूसरे यह कि यह जीवन के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। मंदिर-सेवन से मुख सुरभित हो नठने की चर्चा रेवती बलराम के प्रेम-वर्णन के प्रसंग में 'शिथुपाल-वध' के द्वितीय सर्ग में, पूर्वमेघ में एवं अन्यत्र भी पर्याप्त परिमाण में मिलती है।

मुख को सुरभित करने के साथ ही अधरौष्ठों को रक्षित करने के लिए ताम्बूल-मवन किया जाता था। काव्यों में इसका सर्वत्र उल्लेख मिलता है। अधिकांशतः इसका सेवन वे भोजनोपगन्त करती थीं। इससे वीटक जनित रंग के भंग का भय नहीं होता था। यह पान विभिन्न प्रकार का विभिन्न गुणों वाला होता था। इसके प्रमुख मेदों का मध्ययुग में कौन-या नाम प्रचलित था, यह मुझे नहीं मालूम हो सका पर वर्तमान में ये संज्ञाएँ प्राप्य हैं—जगन्नाथी पान, देशी पान, मीठा पान,

मद्रासी पान, लड्डा पान एवं गङ्गेरी पान। जगन्नाथी पान में शीतलता ज्यादा होती है। मीठा पान में मिष्ठ मसालों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है एवं इसके दल भी बड़े कोमल होते हैं। मद्रासी पान हाथी के कान की आकृति के काफ़ी गर्मा प्रदान करनेवाले माने जाते हैं। लड्डापान में रस काफ़ी होता है, साथ ही उष्णता भी। गङ्गेरीपान न काफ़ी उष्णता प्रदान करनेवाले होते हैं न ज्यादा शीतलता ही और इनके दल काफ़ी मुलायम एवं स्वाद में बेजोड़ होते हैं। पानों को सुगन्धित बनाने के लिए खिल्ली के अन्दर कस्तूरी और केशर के एक-दो कण डाल दिए जाते थे। खदिर, वीटक, सुधा (चूना) आदि तो इसके अनिवार्य अंग हैं ही। पान के बीड़ों को केवड़े तथा चन्दन के जल में अर्द्ध कर सुप्ति-मेदुर कर लिया जाता था एवं ऊपर से एक लवंग खोस दिया जाता था। शीतलता चाहनेवाली कर्पूर, बराश आदि का खूब प्रयोग करती थी।

पान की बिट्टी लगाने की भी एक कला होती थी और इसके लिए ताम्बूलवाही निपुण होता था। बिट्टी लगाते समय प्रयुक्त मात्राओं का काफ़ी ध्यान रखा जाता था। कारण चूने की अधिकता के कारण जलन होती है और खैर तथा सुपारी की अधिकता के कारण लाजिमा का अपकष होता है। रात के समय पते अधिक लिए जाते थे। बिट्टियों प्रायः चौकोर या त्रिकोणात्मक होती थीं। पान खाने का भी एक शास्त्रीय विधान था। प्रायः पहले की दो छूट विपैली ममस्ती जाने के कारण फेंक दी जाती थीं। तीसरी छूट को सादर उदरस्थ कर लिया जाता था। अंधों के अनुशील से स्पष्ट है कि ताम्बूल का उपयोग अपनी चर्म सिद्धि पर था और सांस्कृतिक त्योहारों, पूजादि तथा संस्कारदि के अवसरों पर इसका अनिवार्यरूप से प्रयोग किया जाता था। बराह-मिहिराचार्य का कथन भी ध्यान देने के योग्य है—

“ताम्बूलं मुखरोगनाशनिपुणं संवर्द्धनं तेजसो
नित्यं जाठरवह्निर्वादनं दुग्न्धदोषावहम्,
वक्त्रालङ्कार्यं प्रदर्शनं विद्वन्नुपाग्रे रणे
कामस्यायतनं ममुद्भवकरं लक्ष्म्याः सुखस्यास्पदम्”

कामिनीयों तिलकमांगल्य एवं सौन्दर्योत्कर्ष इन दोनों रीतियों से लगाया करती थीं। प्रायः इसके लिए रक्तसिन्दूर या श्यामल कस्तूरी का उपयोग किया जाता

था। मुख पर धारण किए जाने वाले कुछ प्रमुख आम-रणों की यहाँ चर्चा की जा रही है। नाक में नथ पहनने का रिवाज था जिसका आभास दशहरे के अवसर पर बनने वाली देवियों में अब भी देखा जा सकता है। यह सोने और चमकीले मोतियों से तैयार किया जाता था। इससे मुख का सौन्दर्य वस्तुतः काफी बढ़ जाता था। शकटवृद्धि ने नथ पहनी नायिका की सौन्दर्य-प्रशस्ति करते हुए लिखा है—“बाले, मालूम पड़ता है, सुधामय होने पर भी काम भी शक्ति से परिचित क्षयरोग से प्रस्त यद् चन्द्रमा तुम्हारे मुख का सुधा-पान करने के लिए नथ के मोती के छल से लघु रूप धरकर आ गया है।” ओखों में काजल लगाना भी एक श्रृंगार ही था। काजल के सेवन कजरी ओखों की नीलामा जहाँ और प्रगाढ़ हो उठती थी, वहाँ वे नीरोग भी रहा करती थीं। कालिदास की कवि-कल्पना के अनुसार ऐसी ही ओखों की तुलना में ब्रह्मा ने नील कमल को उपस्थित किया पर उसे जब बहुत तुच्छ पाया जाया तो खिन्न हो कर पौक में फेंक दिया। कानों में या तो वृद्धाकार मोती पहने जाते थे या कर्णफूल। कर्णफूल संस्कृतनाम ‘ताटङ्क’ है। इसका रिवाज अभी भी बहुत जगहों में पाया जाता है। प्रायः यह सोने का ही होता था और इसमें कीमती नग जड़े होते थे। आकृति वलयाकार होती थी। भाले पर दोनों कर्णों के मूल से प्रारम्भ कर पत्ररेखाएँ रची जाती थीं। प्रायः यह कार्य हरिचन्दन से सम्पन्न किया जाता था।

शरीर के मध्यभाग में पहने जाने वाले आभूषणों में सर्वप्रमुख गलहार था। आजकल यह सिकड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इधर मध्ययुग के अनुकूल सोने के गोलाकार दानों से निर्मित लङ्घियों के धारण का रिवाज चल पड़ा है। तब प्रायः यह चमकदार बड़े-बड़े मोतियों से बना होता था अथवा मलाई हीरकों से। हीरक-हारों का प्रचलन उच्च कुलों में था। उच्चल प्रभा के कारण वे ऐसे लगते थे जैसे निरभ्र गगन के दिपते तारक ही हों। इस प्रसंग में उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करने वाले एक सुकुमार श्लोक के उद्धरण का लोभ संवरण में नहीं कर सकता—

“विलोक्य बालामुखचन्द्रविम्बं

कटे च मुक्तावलिहारताराः।

पुनर्निशायां भयभीतभीता

सूर्योदये रोदिति चक्रवाकी ॥”

अर्थात् तारों की नाई गजगजाते हीरकों की माला पहने श्यामांगी रूपसी चली आ रही थी। चक्रवाकी ने देखा तो सूर्योदय हुआ रहने पर भी भय से रोने लगी। उसे लगा जैसे रात चली आ रही हो। अमवशात् उसने रूपसी के मुख को चन्द्रमा और हीरक-दल को तारक-यण्डल समझ लिया था। गले में हँसुली पहनी जाती थी। इसका नाम ‘मैवेयक’ था। ‘निष्क’ स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे और यह सोने के दानों से निर्मित होता था। मोने के सिक्कों की कंठी भी पहनी जाती थी। बाद में चौड़ी के फूलों को चार-पाँच की संख्या में गूँथ कर पहनने का रिवाज चल पड़ा जो अधपर्यन्त रेहती बालिकाओं में देखा जा सकता है। इन फूलों का आकार ‘पान’ की आकृति का होता था।

बाहु पर वे ‘मणि बन्धन’ बाँधती थीं जिसे जनभाषा में ‘टङ्गा’ कहते हैं। यह सोने से बना और तीन बार वलयाकार मुड़ा होना। प्रायः इसका रूप कुण्डली मारे सर्प की नाई होता था और कामिनी की गोरी बाँटों में ऐसा लगता था जैसे चन्दन धुँच में सर्प लिपटा हो। कलाइयों में कड़े पहने जाते थे—

“प्रकोष्ठबन्धे विम्बोष्ण्या-

स्तस्याः काश्चनकङ्कणम्,

नाल वलयितं हस्ते

हेमाब्जस्येव राजते ॥”

(महाकवि माध)

अर्थात् विम्बफल की नाई लाल अश्वरोवाली उस सुन्दरी की कलाई में सोने के कड़े ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे सोने के कमल का मृगाल ही आकर लिपट गया हो। कड़ों के अलावा कलाइयों की शोभा सोने और काँच की चूड़ियों भी बढ़ाती थीं। इनका नाम ‘पारिहार्य’ था। इन पारिहार्यों को छोड़ कर के शेष आभूषणों के लिए मणिगर्तों का बड़े शौक व्यवहार किया जाता था। व्यवहृत होने वाले मणिगर्तों में नीलमणि (नीलम) प्रवाल (मृगा), मामार (पद्मा, इसका रंगनीला होता है), मुक्ता, हीरक (छोटे हीरे), एवं ‘वज्र’ (बड़े हीरे) का प्रयोग खूब होता था।

हाथ की अंगुलियों में अंगूठियाँ पहनी जाती थीं। विवाह के अवसरों पर आज भी उक्त परम्परा का पालन देखा जा सकता है। ये दसों अंगुलियों में पहनी जाती थीं। इसका नाम 'अंगुलीयक' या 'मुद्रिका' था। पता लगाने के लिए आए हनुमान् को अशोक वन में सीता ने राम को विश्वस्त करने के लिए अपनी चूड़ामणि दी थी और राम ने पहचानने के लिए अपनी अंगूठी। नख यों तो गन्दगी से बचने के लिए काटे जाते हैं, पर प्राचीन भारत में इसकी जितनी शैलियाँ प्रचलित थीं, उनसे लगता है कि श्रृंगार-साधन में यह भी एक कर्म ही था। नख कई प्रकार से काटे जाते थे। इनमें चन्द्राकार, त्रिकोण एवं दन्तुल रूपों में काटना ज़्यादा अच्छा समझा जाता था। इस तरह से काटने के बाद उन पर गाढ़े 'अत्यन्तक' का लेपन किया जाता था। हथेलियों पर सरल रेखाओं या विभिन्न चित्र-रूपों में मेंहदी से छापे जाते थे। छापने के पहले मेंहदी को सुगन्धित द्रव्य से आर्द्र बना लिया जाता था। इससे जहाँ हथेलियों की शोभा होती थी, वहाँ उनमें सुरभि भी आ बसती थी। (किराताजुनीयम्। सर्ग ८। २ श्लोक ५)

प्रसाधन-कर्म में सहायक उपादान दर्पण के कई प्रकार प्रचलित थे। साधारणतया कोंच के दर्पण, चिक्वण, चमकीले पाषाणों से निर्मित दर्पण एवं सोने चाँदी के धिक् कर चमकाए गोल, त्रिकोण या चौकोर पट्ट व्यवहार में लाए जाते थे। बाह्यकीय रामायण में यत्रतत्र इनका रूपोल्लेख मिलता है।

कटि प्रदेश में करधन्नी या कमरजेब पहना जाता था। इसके पहनने के पीछे दो उद्देश्य थे। एक, कटि प्रदेश की शोभा, दूसरा, कसावट एवं मजबूती। 'कांची', 'दाम', 'रशना' एवं 'मेखला' इन चार रूपों का प्रचार था। इनमें थोड़ा ही विभेद था और प्रायः ये एक-दूसरे के पर्याय के रूप में व्यवहृत होते थे। 'कांची' घुँघरुदार कमरजेब को कहते थे, जिसे सुनहरी लटें लटकती रहती थीं। सोने की धागेदार करधन्नी 'हेमदाम' तथा मणियों की धागेदार करधन्नी 'मेखला' कहलाती थी। 'रशना' जंजीर के समान होती थी। कटिभाग के उपरान्त नितम्ब प्रदेशों को भी सजाने की प्रथा थी। अक्सर वे सोने की करधनियों या मणिमालाओं से सजाए जाते थे। कालिदास ने लिखा है—

“नितम्बविम्बेःसदुकुलमेखलेः

स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः

शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः

स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्”

— हे प्रिये! इस प्रीष्म में सुन्दर रेशमी कपड़े पहने नितम्ब भागों को करधनियों से सजाए, हारों वाले वस्त्रस्थल पर चन्दन का शीतल लेप किए सुवासित केश-कलाप एवं पुष्पाभरणों वाली ये सुन्दरियों प्रीष्म में अपने पतियों का मन बहलाती खिजता हर रही हैं। (श्रुतसंहार प्रथम सर्ग। १ ला.क ४।)

पैरों में गाढ़ा महावर लगाया जाता था। इह तलवे के ऊपर की कोर चारों ओर से रंगी जाती। महावर 'लाल्घारस' से तैयार किया जाता था। पैर अंगुलियों में भी अंगूठियाँ पहनी जाती थीं। ऐँड़ी चतुर्दिक भाग में ऊपर नूपुर धारण किए जाते थे। आजकल 'पायल' या 'लच्छा' कहते हैं—

“नितान्तलाल्घारसरगरंजितै

नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः”

(कालिदास)

ऊपर जिन अलंकारों का वर्णन किया गया है, उनका इस्तेमाल प्रायः नगर बालाएँ ही करती थीं। तत्कालीन प्रामोद्य बालाएँ खान-पान की दृष्टि से सुखी जरूर थीं, पर इतने कीमती रत्नों के आभरण बेचारी कहाँ से लातीं? अतः उनका शौक वनफूलों से किए जाने वाले श्रृंगार तक ही सीमित था। पर्वत प्रदेश की रूपसियों भी फूलों के गहने पहना करती थीं। वे कर्ण-फूलों की जगह पद्मराग-मणि के समान लाल अशोक के नव पल्लव कर्ण-छिद्रों में खोमती थीं। मोती की नाईं सकेद सिन्धुवार के नन्हें फूलों से अपने केश सजाती थीं। सोने की 'कांची' की जगह वे केशपुष्पों की कांची पहना करती थीं। शंकरदेव के अर्चन के लिए जाती पार्वती के रूप-वर्णन में कालिदास ने इन सबका उल्लेख किया है। 'पार्वती' की शाब्दिक ध्वनि पर्वत-बालाओं का ही संकेत करती है। ये सुख को सुवासित करने के लिए 'बेला' (एक विशेष प्रकार का छोटा पर अमृत-तुल्य स्वाद वाला बेल) से निकालें एवं 'एला' से सुगन्धित किए गए 'सोम' नामक 'रस' का पान करती थीं।

‘मेघदूत’ में अलका की स्थिति महाकवि ने गंगोत्री

के पास कैलाश की गोद में बतलाई है। (पूर्वमेघ । २ श्लोक ६४ वॉ) इस शीतल प्रदेश की पर्वत-बालाएँ निर्मल भोलेपन से भरे अपने मोहक सौन्दर्य के लिए आज भी विख्यात हैं। अतः अलका की सुन्दरियों के पुष्पाभरणों की चर्चा के छल से कालिदास ने इन पर्वत रूपियों के सौन्दर्य-प्रवाधनों की ही चर्चा की है—

“हस्ते लीलाकमलमल्ल के बालकुन्दानुविद्ध
नीता लोभप्रसवरजसा पाण्डुतामनने श्रीः
चूडापाशे नवकुरबकं चारुक्यौ शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमनं यत्र नीपं वधूनाम्”

—‘अलका की सुन्दरियों हाथ में लीलाकमल लिए रहती हैं। वेणी में कुन्द के सुफेद फूल खोसा करती हैं। मुख पर लोभ पुष्पों का पराग मलती हैं। केशपाश में नव कुरबक के रक्तसुम खोसती हैं। कानों में शिरीष के लाल फूल कण फूल के समान धारण करती हैं। वे अपने सीमन्त भाग को मनटीका की शोभा चुरा लेने वाले छोटे-छोटे कदम्ब के फूलों से सजाती हैं।’ नागरियों में मनटीका का प्रचलन था या नहीं, इस सम्बन्ध में (अन्ध-पूर्वक कृष्ण नहीं कहा जा सकता। यों उसकी स्वस्थ परम्परा अब भी भारतीय परिवारों में पायी जाती है। एक सोने का वलययाकार होता है जो सोने की दो या एकलट के सहारे केशों से बैधा-सा रहता है। वलययाकार पट्ट माँग पर झूलता रहता है, जिससे उसका नाम ‘मनटीका’ पड़ा।

वस्त्र धारण दैनिक जीवन की प्रक्रिया में आता है, पर मध्ययुग में विभिन्न अवसरों एवं विभिन्न वृद्धियों से पहने जाने के कारण जो इसके विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं, उससे सिद्ध होता है कि श्रृंगार साधन का यह भी एक महत्वपूर्ण अंग हो चला था। उक्त दृष्टि से अवलोकन करने पर ये बातें स्पष्ट होती हैं। वस्त्र, स्वागत कार्य, राज्याभिषेक एवं संस्कारादि के समय विशिष्ट प्रकार के द्यौम वस्त्र पहने जाते थे। ये बहुत ही कीमती, मुलायम, चिकने एवं भारी बुने होते थे। ये सम्भवतः लुमा या अलसी के पौधों के रेशों से तयार किए जाते थे। राम के यौवराज्याभिषेक के दिन वाल्मीकि के वर्णनानुसार द्यौमवासिनी होकर ही कौशल्या देवालय में अर्चना के लिए गई थी। राजघराने में रेशमी वस्त्रों का प्रचलन था और राजकुमारियों के

रत्न जड़ित सारे परिधान प्रायः रेशम से बने होते थे। ये चिकने, टिकाऊ, चमकदार और शीलता प्रदान करने वाले होते थे।

सर्व साधारण में धनी घराने की स्त्रियाँ सुनहरे धागों से बने पीले वस्त्रों को बड़े शौक से पहनती थीं। यह कम दाम रेशम से बने होते थे। कई के महीन धागों से बने फैशने-बुल वस्त्रों में निम्नाङ्कित विभेद द्रष्टव्य हैं— महीन कपड़े (‘सूक्ष्म वस्त्र’) कीमती कपड़े (‘महार्हवस्त्र’) या ‘वर्हवस्त्र’ चमकते नये कपड़े (आहत वस्त्र), फूलकड़े तथा किनारीदार सूती कपड़े (‘संवीत वस्त्र’, यह काफ़ी पतला होता था।), घुटनों तक झूलने वाले बौहदार पहनावे (कंचुक), सिर का आवरण करने वाले वस्त्र (उष्णीषा), रंगीन पर मोटे कपड़े (शाटी), रंगीन एवं महीन कपड़े (पट्ट वस्त्र) कंधों की झोली (प्रावरणा) बुनाई कला शायद चरमोत्कर्ष पर भी। ग्रीष्म ऋतु में पहने जाने वाले ‘सूक्ष्मवस्त्र’ (मल मल) इतने मही बुने होते थे कि अंगों पर लेपित चन्दन-पराग भी झलझल दीखता रहता था। वे सौंसी की हवा से भी फरफरा उठते थे। (वाल्मीकीयराമായणम्)

जिस समय की नारियाँ इतनी श्रृंगार-प्रिय रही होंगी, पुरुष भी कम शौकीन नहीं रहे होंगे उस समय के पुरुष प्रायः वस्त्रों के बड़े शौकीन थे। उनके परिधान ऊपर गिनिये गए सभी प्रकार के वस्त्रों के विभिन्न रूपों में सिले होते थे। इस और काफ़ी रुचि रहने के कारण ही उन्होंने चित्र-विविध, चिकने, महीन एवं काफ़ी मुलायम कपड़ों के निर्याण में इतनी उन्नति कर ली थी। रेशमी दुकूलों के धारण का रिवाज ज़ोरों पर था।

‘अञ्जना’ की भित्ति-चित्रावलिखों से ही प्रमाणित है कि स्त्रियों की तरह वे भी केशों को मजाने-सँवारने में काफ़ी रुचि रक्खा करते थे। पर उनके केश रूंध-भाग तक ही होते थे। ‘संधनिका’ से सँवार कर वे उन्हें पीछे की ओर से ले जाते थे। काकपत्र के समान काले एवं घुंघराले केश आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

नहाने के पहले ये फेनक इस्तेमाल करते थे, इस से अंगों का रंग निखर आता था। समूचे शरीर में वे सुगन्धित पराग लगाया करते थे, जिसमें चन्दन-धूलि पर्याप्त मात्रा में होती थी। इसके व्यवहार की स्थिति परम्परा पंडितराज जगन्नाथ तक पलसी रही। इसका प्रचलित नाम ‘अङ्गराग’ था। ‘बभ्रुव भस्मेव सिताङ्ग-

रागः ।' अङ्गराग उजला होता था । ललाट पर तिलक एवं आँखों में काजल पुरुष भी लगाते थे । कानों में कुण्डल पहना जाता था यह सोने का बना एवं मणिरत्नों से जड़ा होता था । 'गीतगोविन्दम्' के गायक पीयूषवर्षा जयदेव ने लिखा है ।

“चन्दनचर्चितनीललकलेवरपीतवसनवनमाली
केल्लिचलन्मणिकुण्डलमणिरागण्डयुगस्मितशाली”

मुख की सुगन्धि के लिये सुगन्धित आम्रव का पान किया जाता था । दाँतों को एक विशेष प्रकार की लाल जड़ी की कूर्ची से खूब साफ किया जाता था । अङ्गुरों-की लाली के लिये पान का व्यवहार होता था । मध्यकाल में पान भेंट करना सम्मान एवं हार्दिक स्नेह के प्रकाशन का प्रतीक बन गया जैसा कि श्रीहर्ष के कथन 'ताम्बूलद्वय-मासनञ्च लभते यः कान्यकुञ्जेश्वरात् । से पता चलता है ।

गले में हार या सिकड़ी पुरुष भी पहनते थे । श्रीकृष्ण के हार पहनने का वर्णन करते हुए नवीं शताब्दी के अन्त भाग में हुए माघ ने लिखा है कि 'तमाल पुष्प के समान नील वस्त्रस्थल पर लोटते दो लड़ियोंवाले हीरकहार की तुलना तभी हो सकती है जब नीले आकाश में दो ओर से आकाश गंगा की दो उज्ज्वल धाराएँ प्रवाहित हों । (शिशुपालवधम् । सर्ग ३। श्लोक नवौ ।) फूलों की माला पहनने का रिवाज था और इसके लिए

द्वारा श्री गोपीनाथ, शिवपुर

पटना—६

चमेली एवं नील कमल के कुसुम खूब काम में लाए जाते थे ।

पुरुष हथेलियों में सोने के कड़े भी पहनते थे । बच्चों को जो बाली पहनाई जाती है वह कड़े का ही परिवर्तित रूप है । पूर्वमेघ के द्वितीय श्लोक एवं यत्र-तत्र भी इसका उल्लेख मिलता है—

“तस्मिन्नादौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मामान् कनकवलयभ्रशरिक्कप्रकोष्ठः”

—उप रामगिरि पर्वत पर अपनी प्रिया से विलग उम यज्ञ ने किसी तरह में कुछ महीने बिताए । विरह-भार से उसकी देह इतनी दुर्बल हो गई कि कला-इयों में सोने के कड़े फिपल पड़े । 'अंगद' या 'वाजून्द' बाहों के ऊपरी भाग में पहने जाते थे कीमती जूतों का भी व्यवहार किया जाता था । ये व्याघ्र चर्म या वाराह चर्म से बने होते थे एवं मोतिद्रों में प्रथित—

“दधिचर्मवैयाघ्रं
पराभ्यौ चाप्युपानहौ”

(वाल्मीकीय रा. किष्किन्धा काण्ड ३६ २७२ वौ श्लोक)

ऊपर वर्णित समस्त आभरणों एवं परिधानों से सम्यक्नुया भूषित रहने वाले उन भारतीय नारी-नरों के समस्त स्वर्ग के देवी-देवताओं का भी अनुपम लावण्य फीका पड़ गया तो क्या आश्चर्य ?

—श्यामनन्दन शास्त्री

जीवन में मुझे सब से अधिक आकर्षक वस्तुएँ प्रेम, दया और कोमलता प्रतीत होती हैं—बुद्धि, चातुर्य, कुशलता या ज्ञान की विशालता नहीं ।

ज्ञान महान् है—परन्तु छोटे बच्चों की हैंसी, मित्रों की मित्रता, अंगीठी के पास चली हुई गप-राप, फूल और संगीत ज्ञान से अधिक मधुर और आकर्षक हैं ।

—जॉन रिचर्ड मीन

कुआन हान-चिंग

तेरहवीं शताब्दी के महान् चीनी नाटककार

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पहले का हमें कोई नाटक नहीं मिलता, परन्तु उसके बाद के डेढ़ सौ वर्षों में बहुत-से महान् नाटककार हुए और उनकी दो सौ से अधिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। चीनी साहित्य के इस महत्वपूर्ण काल में, जो चीनी नाटक के लिए एक स्वर्ण युग था, आरम्भ से ही महान् बौद्धिक हलचल दिखाई दी। उस समय जो शत पुष्प अपनी पूरी बहार दिखा रहे थे, उनमें सबसे मुख्य, प्रोज्ज्वल और बहुमुखी प्रतिभा के धनी नाटककार कुआन हान-चिंग थे।

चीनी नाटक के इस आक्रामक विकास और इतने अधिक नाटककारों के आविर्भाव के पीछे ऐतिहासिक कारण हैं।

यह चीनी इतिहास में युआन वंश का या मंगोल काल था। १२३४ में मंगोलों ने उत्तरी चीन में लुचेन तातारों को परास्त कर उनकी अपेक्षाकृत उन्नत सभ्यता पर अधिकार कर लिया, जिसमें उनका नाटक भी शामिल था। १२७६ में कुबले खान ने दक्षिणी सुंग साम्राज्य को उलट कर समस्त चीन को एक कर दिया, जिससे मंगोल दक्षिणी सुंग वंश की गौरवशाली संस्कृति के उत्तराधिकारी बन गए।

उस समय दक्षिण चीन के लोकप्रिय नाटकों में दक्षिणी घुनों और बोलियों का प्रयोग होता था और अधिकतर नाटकों के प्रदर्शन में एक से अधिक दिन लगते थे। परन्तु उत्तर के नाटक, जो 'त्सा चु' कहलाते थे, इनसे बिल्कुल भिन्न थे। उनका जन्म उत्तर और मध्य चीन की 'चु कुंग त्याओ' नामक नाट्य गाथाओं से हुआ था जिनका कुछ भाग बोला और कुछ गाया जाता था। शुरू के ये 'त्सा चु' यद्यपि रंगमंच पर खेले जाते थे, फिर भी गाथाओं का प्रभाव उन पर अभी भी स्पष्ट था। 'चु कुंग त्याओ' क्योंकि एक व्यक्ति—पुरुष या स्त्री—द्वारा गाई जाती थी, अतः युआन नाटकों में भी मुख्य भूमिका केवल एक होती थी। जब प्रधान पात्र पुरुष होता था तो नाटक 'मो' कहलाता था और जब स्त्री होती थी तो उसे 'तान' कहते थे। नाट्य

गाथाओं की याद दिलाने वाली दूसरी विशेषता—घटनाओं को गीत में कहने की प्रवृत्ति थी। परन्तु गाने का काम क्योंकि केवल नायक या नायिका को करना पड़ता था, अतः प्रदर्शन बहुत लम्बा नहीं हो सकता था। साधारणतः वह चार अंकों में सीमित होता था—आरम्भ, क्रिया का विकास, चरमोत्कर्ष और समाप्ति। कभी-कभी प्रासंगिक उपकथाओं के लिए या प्रस्तावना के तौर पर एक छोटा दृश्य और जोड़ दिया जाता था। सहायक पात्र संवादों और क्रिया का प्रयोग नाटक के वातावरण को गहन बनाने और कथा को खोलने के लिए करते थे।



कुआन हान-चिंग अपने काल के सबसे बड़े और पहले 'त्सा चु' लेखक थे। वस्तुतः, वह नाटक के इस रूप के स्रष्टा माने गये हैं, जिस प्रकार कि एसचिलस ग्रीक

दुःखान्त नाटक के स्रष्टा माने जाते हैं। उनकी अत्यन्त उर्वरा प्रतिभा ने कुल ६३—शेकस्पियर से कोई दुगुने नाटकों को जन्म दिया। परन्तु वह यूरोप के उस सर्व-श्रेष्ठ नाटककार जितने भाग्यशाली न थे, क्योंकि उनकी बहुत-सी रचनाओं के तो केवल नाम इस प्रकार हैं : 'भरी गरमियों में बर्फ़; गणिका के हाथों रक्षा; तितली स्वप्न; चालाक नौकरानी; चांद से प्रार्थना; नदी किनारे का मंडप; श्रीमन्त कुआन अकेले ही भोज में गये; मछाट मृत योद्धाओं का स्वप्न; पत्नी-हत्या; सोने के तार का सरोवर, राजनर्तकी श्येष्ट खेन-श्यांग, जेड का दर्पण; उबन-शेर जनरल की मौत, मैं तु ने जेड की मेखला लौटा दी, अकेला गदाधारी सेनापति, मैडम ल्यु के यहाँ दावत, पुत्र को आदेश, गोंव जुन-श्यांग और स्निन चिंग-आन, आदि।

कुआन हान-चिंग खानबाखिक के निवासी थे, जो वर्तमान पेकिंग के क्षेत्र में था, यद्यपि कुछ उल्लेख उनका घर होपे प्रान्त के बुजेन गाँव में बताते हैं। उनका जन्म शायद १२१० ई० में या उसके आसपास हुआ था। जिम समय मंगोलों ने उत्तरी चीन पर विजय प्राप्त की, वह अपनी तीसरी दशाब्दी में थे। इसीलिए कभी-कभी उन्हें जुचेन तातार काल का लेखक भी कहा गया है। परन्तु उनकी ख्याति युआन वंश के काल में ही हुई। उनका नाम नाटककार का पर्याय हो गया था। नाटककार काओ वेन-शु, जिनका युवावस्था में ही देहान्त हो गया, हान चिंग जूनियर कहलाते थे; और हांगचो-निवासी शेन हो-फु को, जो १४ वीं शताब्दी के आरम्भ में बड़े प्रसिद्ध थे, लोग दक्षिणी हान चिंग कहते थे।

युआन थिएटर की चमक-दमक कुआन हान-चिंग और दूसरे नाटककारों के कारण थी, जो उसके लिए लिखते थे। परन्तु उसकी समृद्धि का एक और भी महत्वपूर्ण कारण वे सामाजिक परिस्थितियाँ थीं, जिनसे 'त्सा चु' समस्त चीन में फैल सका। मंगोल आक्रमण के बाद सत्तारूढ़ मामंत वर्ग का पतन हो गया, जिससे किसानों का शोषण और उनकी यातनाएँ कुछ कम हुईं। पुराने जमीनदारों का स्थान तुगन्त ही कोई नया जमीनदार वर्ग नहीं ले सका, इसलिए कुछ अरसे के लिए गाँवों के जीवन में थोड़ा सुधार हुआ। इसके अलावा, पश्चिम से जो सम्पर्क बहुत समय से क्षिन्न-भिन्न हो गए थे, मंगोलों ने उन्हें फिर से जोड़ दिए, जिससे चीन की दस्तकारी की

चीलें और खेती की उपज, खास कर रेशम, पोरसैस्किन का सामान और चाय काफ़ी मात्रा में समुद्र और खुरकी के रास्ते बाहर जाने लगी। इससे जहाँ शहरों में दस्त-कारों का जीवन-स्तर उन्नत हुआ, वहाँ किसानों की दशा भी सुधरी। उस समय की एक गाथा है, 'देहात का एक गँवार थिएटर में'। इसमें एक देहाती का चित्र है, जो पहली बार शहर में आता है और थिएटर देखता है। इससे पहले किसी किसान के लिए थिएटर में जाना संभव न था। परन्तु अब वह ऐसा कर सकता था, यद्यपि टिकट की कीमत २०० कैश थी। शहर के लोग थिएटर के बड़े शौकीन थे, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस तरह थिएटर की खूब उन्नति हुई। अभिनेताओं की बहुत-सी कम्पनियाँ थीं और नए नाटकों की बड़ी माँग थी। कुआन हान-चिंग और दूसरे नाटककार इन मण्डलियों से निकट सम्पर्क रखते और वे उन्हें खूब पैसा देती थीं। वस्तुतः यह माना जाता है कि वे कभी-कभी विशेष रूप से विख्यात अभिनेताओं के लिए नाटक लिखते थे।

दूसरी महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की यह है कि चीनी इतिहास के अन्य कालों में विद्वानों को यह अवसर था कि वे, अधिक रियों के चुनाव के लिए होने वाली शाही परीक्षाओं को पास कर, शासक वर्ग में शामिल हो सकते थे। परन्तु युआन वंश के शासन-काल में सिविल सर्विस परीक्षाएँ बन्द हो गयीं और विद्वानों की सामाजिक स्थिति, जो अब सरकारी अधिकारी नहीं बन सकें थे, अपेक्षाकृत नीची हो गई तथा उन्हें काफ़ी आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। घरदार उनकी प्रतिभा का उपयोग नहीं कर रही थी, अतः उन्हें जनता की ओर देखना पड़ा। इसीलिए उन्होंने इतने नाटक, कहानियाँ और अन्य प्रकार का लोकप्रिय साहित्य लिखा। युआन वंश के समय में बहुत-से विद्वानों का थिएटर से जो इतना गहरा लगाव था, उसका रहस्य चीनी विद्वानों की स्थिति का यह महान परिवर्तन ही था।

१२७६ के बाद मंगोल और उत्तर के अन्य निवासी भारी संख्या में दक्षिण चीन गये—कुछ अधिकारियों के रूप में, कुछ व्यापारियों के रूप में और अधिकतर सैनिकों के रूप में। वे ऐसा मनोरंजन चाहते थे, जिसे वे समझ सकें, जिसमें उत्तरी युद्ध और बोलियाँ हों। अतः 'त्सा चु' उनके साथ चीन के सभी भागों में

पहुँचा, यहाँ तक कि दक्षिण के लोग भी उसमें आनन्द लेने लगे और दक्षिणी नाटककारों ने उसी शैली में लिखना आरम्भ कर दिया। उत्तर के नाटककार भी बराबर दक्षिण जाते रहते थे और कभी-कभी, वहाँ की नाट्यशालाओं के लिए नाटक लिखने को, वहीं बस जाते थे। अतः इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि चीनी थिएटर में आरम्भ से ही शत शत पुष्प खिलते रहे हैं।

अपने अन्य समकालीन नाटककारों की तरह, कुआन हान-चिंग भी स्वयं अभिनय करते थे और रंगमंच की पूरी जानकारी रखते थे। यूआन वंश-कालीन नाटकों के एक संकलन की अपनी भूमिका में में मिंग वंश के त्सांग निच-शुने बताया है कि कुआन हान-चिंग खुद “रंगमंच पर आते थे, अपने चहरे को काला और सफेद रंगते थे, और इसे अपना पेशा मानते थे। उन्हें अभिनेताओं की संगत खटकती नहीं थी।” कुआन हान-चिंग थियेटर में जरूर बहुत साल रहे होंगे। हमें उनके जीवन की किसी अद्भुत या रोमांचकारी घटना का कुछ पता नहीं है। वह कभी किसी ऊँचे सरकारी पद पर नहीं रहे। १४ वीं शताब्दी के एक वल्लेख के अनुसार वह एक शाही चिकित्सक थे, अतः यह स्पष्ट है कि वह कभी डाक्टर रहे होंगे। उन्हें तत्कालीन जीवन का गहरा ज्ञान और उस समाज के स्वभाव की पूरी जानकारी थी। इसीलिए वह अपनी इन अमर कृतियों की रचना कर सके। यद्यपि उस समय किमानों और दस्तकारों की भौतिक स्थिति कुछ अच्छी थी, पर राजनीतिक रूप से उनका बड़ी निर्दयता से उत्पीड़न हो रहा था। मंगोल और तातार अधिकारी प्रायः चीनी नहीं जानते थे और सहायकों तथा दुभाषियों की मदद से काम करते थे। राजनीति जीवन पूर्णतया अष्ट हो गया था और मंगोल, एक विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के नाते, जो भी चाहते थे कर सकते थे। नाटककार क्योंकि अपना विषय सामयिक समस्याओं या इतिहास के सुप्रसिद्ध चरित्रों से लेते थे, इसलिए उनकी रचनाएँ सार्वजनिक भावना को प्रतिबिम्बित करती थीं और अपने दर्शकों से उनका निरन्तर सम्बन्ध रहता था। युआन नाटककारों को, जिनके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कुआन हान-चिंग थे, इतनी ज़बरदस्त लोकप्रियता मिली उसका एक कारण यह था।

कुआन हान-चिंग ने जिन चरित्रों की रचना की है उन में सबसे सुन्दर महिलाएँ हैं और उनके अधिकतर नाटकों में मुख्य भूमिका नायिका की ही है। इसका कारण शायद यह था कि प्रमुख कलाकारों में बड़ी संख्या अभिनेत्रियों की थी। वह हमारे लिए चीनी नारी के विभिन्न रूपों की एक चित्रशाला छोड़ गए हैं। जवान विधवा जिसकी बिना अपराध हत्या कर दी जाती है; नौजवान दासी जो अपनी खुशी के लिए उसके संघर्ष करती है; बूढ़ी माँ जिसका हृदय अपने पुत्र के बलिदान के निश्चय से फट जाता है; गाने-नाचने वाले लड़की जो एक मित्र को मुसीबत से बचाने में अपनी सारी अज्ञानता लगा देती है; लाड़ में बिगड़ी लड़की जिसे उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह के लिए बाध्य किया जाता है और जो अंत में बड़ी उम्र के अपने पति से मिल कर लेती है—इस प्रकार उन्होंने बहुत-से चित्र खींचे हैं। उनमें से कुछ करुण और कुछ हास्यकर हैं, परन्तु सब की रेखाएँ स्पष्ट हैं और सब में जीवन का सागर हिलोँले ले रहा है। वस्तुतः, कुआन हान-चिंग स्त्रियों के चित्रण में चीन के अन्य सभी महान नाटककारों से आगे बढ़ गए हैं। हर उम्र की और जीवन के हर क्षेत्र की, विभिन्न स्वभावों और आदतों वाली स्त्रियों का उन्होंने बड़ी कुशलता से चित्र खींचा है जिनमें से प्रत्येक प्रामाणिक है और अपनी अलग विशेषता रखता है।

उनके दुःखान्त नाटकों में ‘भरी गरमियों में बर्फ’ सबसे प्रसिद्ध है। इसकी नायिका ताउ गो एक बाल बधू है जिसे उसका पिता, श्रीमती त्साइ का कर्जदार होने के कारण, त्साइ परिवार से ब्याह देता है। बाद में ताउ गो का पति मर जाता है और श्रीमती त्साइ एक बूढ़े में विवाह कर लेती है। बूढ़े का लड़का, गर्दम, ताउ गो को अपनी पत्नी बनाना चाहता है पर वह उसका यह प्रस्ताव क्रोधपूर्वक ठुकरा देती है। गर्दम श्रीमती त्साइ को विष देने का प्रयत्न करता है पर गलती से उसकी बजाय अपने पिता की ही हत्या कर देता है। वह इस हत्या का दोष ताउ गो पर मढ़ता है। एक मोटी अक्ल का मजिस्ट्रेट उसे मुयुदएक सुनाता है और वह बेचारी किसी के पास उसकी अपील नहीं कर सकती। परन्तु जब उसे फाँसी के लिए ले जाने लगते हैं तो वह अपने को निर्दोष बताती है और प्रतिरोध

करती है। वह शाप देती है कि मेरे साथ जो अन्याय हो रहा है उसके फलस्वरूप वध-स्थल के सफेद फरड़े पर मेरे खून के दाग पड़ जाएँ, भरी गरमियों में बर्फ पड़े और इस खिड़ में तीन साल तक पानी न बरसे। देव को उस पर दया आ जाती है और उसके शाप की सब बातें सच्ची होती हैं। बाद में उसका पिता, जो एक उच्च अधिकारी नियुक्त हो जाता है, उसके साथ हुए अन्याय का बदला लेता है। ताउ गो का साहस और अन्धकार की काली शक्तियों के आगे सिर न झुकाने का उसका निश्चय उस युग के लोगों की स्फिटेड का प्रतीक है, और उसकी मृत्यु उस युग के अन्याय और लोगों के दारुण कष्टों को प्रतिबिम्बित करती है।

‘तितली स्वप्न’ कहण रस से भरा एक सुखान्त नाटक है। केह नामक एक सामन्त ने श्रीमती वांग के पति की हत्या कर दी थी। उसके तीन बेटे हत्यारे को मार कर अपने बाप की मौत का बदला लेते हैं। प्रशासक पात्रो जब यह आज्ञा सुनाते हैं कि एक लड़के को अपने प्राण देने होंगे तो तीनों भाई मरने को तैयार हो जाते हैं। श्रीमती वांग से उनमें से किसी भी एक को चुनने के लिए कहा जाता है। दो बड़े लड़के पहली पत्नी के और सबसे छोटा उसका अपना है। एक तीव्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के बाद वह अपने बेटे को ही बलिदान के लिए चुन लेती है। लेकिन जब वह उसकी लाश के लिए जाती है तो वह जीवित और प्रसन्न मिलता है, क्योंकि प्रशासक उसे क्षमा कर देते हैं। यह कहानी जनता की इस व्यापक अभिलाषा को अभिव्यक्त करती है कि अधिकारी न्यायप्रिय होने चाहिए जो धनियों और बड़े लोगों से भयभीत हुए बिना निर्दोष की रक्षा करें। सच्चे न्यायाधिपति प्रशासक पात्रो से सम्बन्धित नाटक उस समय काफ़ी लोकप्रिय थे। ‘चालाक नौकरानी’ और ‘चांद से प्रार्थना’ सरोवर में खिले कमलों की तरह स्वच्छ और सुन्दर सुखान्त नाटक हैं, जिनकी रचना में पूर्ण कौशल दिखाया गया है। इनमें कुआन हान-चिंग ने दो ऐसी नायिकाओं की सृष्टि की है जो एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। दोनों प्रेम करती हैं, पर अपने प्रेमी को पा नहीं सकतीं। ‘चालाक नौकरानी’ एक नौजवान दासी येन येन की कहानी है। जब उसे पता चलता है कि मालिक के लड़के की, जिसे वह प्यार करती है, एक और लड़की से सगाई हो चुकी है तो

उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता और वह उनके विवाह को रोकने की प्राणपन से चेष्टा करती है। यह चीन का शायद अकेला ऐसा नाटक है जिसमें एक नौकरानी को अपने मालिक की खुशी के लिए नहीं, बल्कि खुद अपनी खुशी के लिए संघर्ष करते दिखाया गया है। ‘चांद से प्रार्थना’ की नायिका विद्योगिनी वांग जुड़-लान अपने पति के दर्शनों के लिए व्याकुल है, पर वह अपने मन की पीर किती से भी कह नहीं सकती। वह अपनी अभिलाषाएँ रात को केवल चांद के आगे व्यक्त करती है। यहाँ हमें एक सामंतकालीन नवयुवती के संकोच और शर्मिलेपन का एक बहुत ही मार्मिक चित्र मिलता है। अपने कथानक और काव्यमयी भाषा के कारण इसकी गणना अत्यन्त सुन्दर युआन नाटकों में की जाती है।

‘नदी किनारे का मंडप’ में श्रीमान्त यांग, तान चि-आई नाम की एक विधवा सुन्दरी को अपनी रखेल बनाना चाहते हैं जो एक और व्यक्ति से विवाह कर लेती है। श्रीमान्त यांग उस आदमी के सर्वनाश का प्रयत्न करते हैं, परंतु तान चि-आई भेस बदल कर जाती है और वह स्वयं मुद्रा तथा सत्ता-खज़ुरा लाती है जिनसे कि वह निर्दोष अधिकारी उसके पति को बंदी बनाता और मारना चाहता था। अग्र अधिकारियों और बिना अपराध बन्दीगृह में डाले गये निर्दोष नागरिकों के बारे में जो बहुत-से नाटक हैं, यह उनका प्रतिनिधि है।

‘गणिका के हाथों रक्षा’ एक सुखान्त नाटक है जिसमें एक और अत्याचारी का मज़ाक उड़ाया गया है। पान आई एक नाचने गाने वाली लड़की है। चाउ शेइ अपनी पत्नी पर बहुत अत्याचार करता है और वह पान आई से प्रार्थना करती है कि वह उसे उसके पूंजे से बचाए। पान आई प्रेम का झूठा अभिनय करती है और उससे विवाह करने की इच्छा दिखाती है। परन्तु जैसे ही चाउ अपनी पत्नी को तलाक देता है, दोनों औरतें रफू चक्कर हो जाती हैं। सामंती समाज में पुरुष स्त्री पर शासन करता था। पर इस नाटक में पुरुष का अत्याचार नंगा कर के रखा गया है और उसे चुनौती दी गई है, और अंत में दुष्ट पति को खूब उल्टू बनाया गया है। वह सामंती मान्यताओं पर एक करारी जोंट थी।

कुआन हान-चिंग का चरित्र-चित्रण का यह कौशल केवल स्त्रियों तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने वीर

सैनिकों के भी शानदार चित्र दिए हैं। 'श्रीमन्त कुब्जान' अकेले ही भोज में गए' उन थोड़े से युब्जान नाटकों में से है जो आधुनिक रंगमंच पर अभी भी खेले जाते हैं। इनमें वक्रादार जनरल और त्रिराज्यकालीन सम्राट् ल्यु-पे के मुँह-बोले भाई, कुब्जान-यु का अनुपम साहस और वीरोचित व्यक्तित्व दिखाया गया है। वह अकेले ही शत्रु के शिविर में भोज में जाते हैं और तमाम बैरियों पर अपना रोब डाल वहाँ से सही-सलामत वापस आ जाते हैं। 'सम्राट् को मृत योद्धाओं का स्वप्न' नाटकीय स्थितियों से भरपूर एक और नाटक है जिसका विषय बहुत ही उत्तेजनात्मक है। कुब्जान-यु और चांग-फे नामक एक और बहादुर जनरल लड़ाई में मारे जाते हैं, परन्तु सम्राट् ल्यु-पे को उनकी मृत्यु का पता नहीं है। उनकी आत्माएँ सम्राट् के पास यह समाचार ले कर आती हैं। यहाँ जो वातावरण चित्रित किया गया है वह भूत-प्रेतमय और अत्यन्त मानवीय अनुभूतियों का मिश्रण है। ये वीर आत्माएँ अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकतीं। वे, प्रेतों की तरह, ल्यु को दूर से ही—दीपक की छाया में—प्रणाम कर सकती हैं और रणभूमि के अपने प्रिय सार्थियों के पास नहीं जा सकतीं।

एक और उल्लेखनीय नाटक 'पत्नी-हर्ता' है। यह १४ वीं शताब्दी के आरम्भ में संकलित, कुब्जान-

हान-सिंग के नाटकों की सूची में नहीं है। परन्तु युब्जान-नाटकों का सिंग वंश-कालीन जो संस्करण है, उसमें इसे उन्हीं की रचना बताया गया है। इसमें लु-चाइ-लॉगनामक एक दुष्ट व्यक्ति का चित्रण है जो कानून की परवाह नहीं करता और सुखी घरों को नष्ट कर देता है। आखिर प्रशासक पाओ उस जिले में जाते हैं और लोगों को उस दुष्ट जीव से मुक्ति दिलाते हैं। इस नाटक में हमें न्यायप्रियता की प्रबल भावना मिलती है और यह संभवतः इसी महान नाटककार की रचना है जो जन-साधारण की इच्छा को बराबर अभिव्यक्ति देता रहा है।

इस वर्ष हम कुब्जान हान-सिंग की जयंती मना रहे हैं जिन्होंने ये महान नाटक आज से ७०० वर्ष पूर्व लिखे थे। हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि केवल इसलिए अर्पित नहीं कर कि वह एक महान नाटककार और चीनी नाटक के जन्मदाता थे, बल्कि इसलिए भी अर्पित कर रहे हैं कि वह ऐसे लेखक थे जिसका जनता से निकट सम्बन्ध था। उन्होंने अपने युग के अत्याचार पर चोट की और जनसाधारण के लिए लिखा। उन्होंने अपने समय के साधारण चीनियों के सुख-दुःख में भाग लिया और वह हमारे लिए उनके प्रेम, भय और आकांक्षाओं का एक अक्षय भंडार छोड़ गये हैं।

भारत का चीनी दूतावास,
२, भगवान दास, नई दिल्ली,

—चेंग चैन-तो

दखनी बोक

१

मसला है दखन में,
अगर कोई समझे मन में
खत में खत काकखत
लत में लत यफलत

२

टट्टू कूँ टूमनी,
तेजी कूँ इशागत

३

जिने जो कुछ पाया,
हिम्मत से पाया
दौलत कोई माँ के पेट में ते नई लयाया

'सबरस' से संयुहीत

—संभव : कलिया देवी

गुरुदेव के साथ

[श्रीयुग गुरुदयाल मल्लिक द्वारा गुरुदेव श्रीयुग रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शांति-निकेतन संस्मरणों की हिन्दी साहित्य सभा, अहमदाबाद के समग्र दि. १५ जनवरी १९५८ को दी हुई प्रेमानुभूतिपूर्ण वार्ता]

आपने मुझे प्रेम से बुलाया, मैं आनन्द से आया। प्रेम क्या चीज है?... आनन्द किसे कहते हैं?... इन दो चर्चों के बारे में गुरुदेव से जो जाना है वह आपके सामने पेश करूँगा।

भक्त तो प्रेम करता है, भजन करता है, बातें नहीं। प्रेम में कल्पना नहीं होती, अतिशयोक्ति नहीं होती। ऐसा प्रेम कच्चा है।... प्रेम तो प्रभु का आशीर्वाद है। आपने प्रेम से मेरा परिचय करवाया है। मैं भी प्रेम से, अन्तःप्रेरणानुसार, जैसे आपने खाहा है, गुरुदेव के बारे में कुछ कहने की कोशिश करूँगा परन्तु यहाँ भी एक कठिनाई है—मैं अपनी माँ के बारे में क्या कहूँ?... गुरुदेव के बारे में इतना कहूँ कि “वे मेरे सर्वस्व थे... मैं उनके प्रेम के योग्य बनूँ।”

‘गूंगा गुरुदयाल’ : २७ वर्ष तक शांतिनिकेतन से मेरा सम्बन्ध रहा है। १९४१ में गुरुदेव का आवासन हुआ। तब तक २२—वर्षों तक मैं गुरुदेव के साथ रहा, परन्तु सब मिलाकर २२ मिनट भी मैंने उनके बात नहीं की!... फिर भी उनके जीवन की छाप मुझ पर पड़ी है। (यहाँ सार्धक होता है—‘गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्’-प्र.) बच्चा था जब मैंने एक बात मुझे सिखाई थी : “किसी महापुरुष के पास आओ तो खान को ताला लगाकर जाओ, मन को भी।” यह बात गुरुदेव के साथ मैंने निवाही। गान्धी से २० साल तक परिचय रहा, उनके साथ भी मैंने ऐसा ही किया।

शांतिनिकेतन में गुरुदेव जो काम बताते थे वह करता था। तब गुरुदेव प्रातः ३ से ६ तक ध्यान करते थे। मैं हर हफ्ते ६ बजे इस ध्यान की समाप्ति के वक्त जाता, कुछ देर ठहरता, गुरुदेव की आँखें खुलने

पर प्रणाम करता और मौन ही वापस चल देता... ‘गूंगा गुरुदयाल’ इस लिए गुरुदेव ने नाम रक्खा था मेरा।

सामीप्य के पूर्व : आप पूछेंगे गुरुदेव से मेरा मिलना कैसे हुआ ?

सचमुच, जीवन का यह एक रहस्य है—जो न आज तक समझ सका, न इस जीवन में समझ सकूँगा।

आज प्रायः ४४ साल पूर्व कालेज में पढ़ता था बम्बई में। रविवार का, कालेज में छुट्टी का दिन था—जिस दिन लोग देरी से उठते हैं। अस्त्रवार आया, जिससे देखने के लिए सब बड़े उत्सुक थे। एक भाई ने कहा : “हमारे एक कविको ‘नोबेल प्राइज’ मिला है।” दूसरे ने कहा : “रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम भी हमने नहीं सुना है।” प्रोफेसरों में से भी किसी ने पूछा : “यह मिस्टर टागोर कौन हैं ?” मैं खामोश खड़ा यह सब सुनता रहा। यह बाद में पता लगा कि १९०६ के करीब गुरुदेव की एक कहानी ‘काबुलीवाला’ का अंग्रेजी अनुवाद सिस्टर निवेदिता ने छपवाया था। वे ही ये हैं। ‘Modern Review’ की फाइल से वह कहानी पढ़ी गई। सच्ची कहानी थी वह ! जब नाम सुना, मैंने भी देखा कि :

“ईश्वर के दरबार में,
हो सकती है देर,
मगर कभी नहीं अन्धेर”

बैलिजयम के एक भक्त ने मुझे कहा था—

“जिसने जान लिया सबर,
उसने जान लिया परमेश्वर।”

१ “२२ वर्षों तक मैं गुरुदेव के साथ रहा, परन्तु सब मिलाकर २२ मिनट भी मैंने उनके बातें नहीं की।” “किसी महापुरुष के पास आओ तो खान को ताला लगा कर जाओ, मन को भी।”

श्री अरविन्द ने भी यही तो कहा है—

“Do not snatch at realisation”

फिर तस्वीर देखी गुरुदेव की और देखते ही दिल ने गवाही दी कि, “इस व्यक्ति के साथ जीवन में तुम्हारा विशेष सम्बन्ध है।”

दिमाग कहता है, “मगर, इस वक्त तुम्हें ऐसा खयाल कैसे आया था कि इस व्यक्ति के साथ तुम्हारा सम्बन्ध है?” पर दिल और दिमाग में एकता कैसे हो यह देखना है। दिल बार बार कहता था : “तुम्हें कुछ लाभ होनेवाला है।”

गुरुदेव को मैंने फौरन एक कार्ड लिख दिया। वीनबन्धु एड्ज के हाथ का जवाब आया। लिखवाया था गुरुदेव ने—“पहले अपनी पढ़ाई पूरी करो, फिर यहाँ आकर तीन महीने रहो, फिर फ़ैसला करना कि तुम्हें यहाँ रहना चाहिए कि नहीं।”

उन वक्त तुम्हें लगा : यह कवि कोई बादलों में तो नहीं रहता।”

तब तो मैं शान्तिनिकेतन जाने से रुक गया। तीन-चार वर्षों के बाद मैं बी. ए. हो गया। लोगों ने तो मुबारकबादी दी, लेकिन दिल ने कहा—

“बे। बी. ए. हुआ, लेकिन अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं जाना।”

फिर छटपटाहट हुई—गुरुदेव के पास जाने की। मैंने पिता जी से पुछवाया और उस समय उनकी आज्ञानुसार कराची गया। लेकिन दिल में तो वही छटपटाहट थी, वही प्रतीक्षा थी, वही आशा थी। इसी बीच कराची में मैं सफ़्त वीमार पड़ा। जब नीचे मुझे रखा गया तब पिता जी ने मुझसे गौर से पूछा—“बेटा गुरुदयाल ! तुम्हारी कोई इच्छा ?”

“जी हाँ, पिताजी ! १००) रुपए चाहिए, मुझे शान्तिनिकेतन जाना है।” मैंने बोल उठा और पिता जी ने प्रेमपूर्वक आश्वासन दिया :

“१००) क्या १०००) दूँगा, तू पहले अच्छा तो हो जा !”

ईश्वर की कृपा से मैं अच्छा हो गया। पिता जी ने पैसे दिए, तार दिया और पाँच दिन के सफ़र के बाद शान्तिनिकेतन जा पहुँचा।

वह प्रथम भिक्खु...! बोलपुर से पैदल शान्ति-

निकेतन पहुँच कर आश्रम में दाखिल होते ही एक सज्जन से पूछा : “गुरुदेव किम जगह रहते हैं ?”

“गुरुदेव तो कलकत्ते गए हैं—इलाज के लिए, वह बीमार हो गए थे।” जवाब मिला और मेरी उम्मीदों पर पानी फिर गया। मैंने तुरन्त कलकत्ते जाने का विचार किया। इतने में वीनबन्धु एड्ज आए। उनके कहने से मैं वहाँ रह गया।

फिर गुरुदेव आश्रम वापस लौट आए। वीनबन्धु ने उनसे मेरे बारे में कहा। दोपहर के १२ बजे मिलने का समय मुझे दिया गया। ११। बजे मैं खाना खा कर, गुरुदेव के निवास की सीढ़ी पर बैठ गया। वीनबन्धु ने ११-५५ पर मुझे देखा और कवि से पूछ कर मुझे बुलाया। ऊपर गया तो क्या देखता हूँ...पद्यासन में बैठे हुए गुरुदेव और निःस्तब्ध शान्त वातावरण !... मैंने प्रणाम किया और वीनबन्धु के साथ खड़ा रहा।

एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट बीते, पर गुरुदेव चुप ही रहे। दिल रोने लगा—“यह कैसा अजीब कर्मों का लेख ! प्रभु यहाँ बुला कर भी निराश करते हो ?”

वीनबन्धु ने इशारा किया : “१ मिनट बाकी है।”

इतने में गुरुदेव ने अपना हाथों हाथ मेरे सिर पर रखा और कहा—

“I have known you for ages. A seat for you has been vacant in my Ashram for long. When will you occupy it?”

(मैं तुम्हें कई जन्मों से जानता हूँ। तुम्हारे लिए मेरे आश्रम में स्थान खाली ही पड़ा है। कब उसको पूर्ण करोगे ?)

और बस...यह सुनते ही अंदर से ऐसा लगा कि, मेरा पुराना जीवन खत्म हो गया है, नया जीवन मिला है, पानी का झरना समुद्र में मिल गया है।

फिर तो मैं गुरुदेव के पैरों पर गिर पड़ा। प्रभु को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा की : “मैं हूँ तेरा, तू है मेरा।”

गुरुदेव ने पूछा : “तो फिर कब यहाँ आओगे ?”

मैंने कहा : “कराची जा कर, नौकरी का इस्तीफ़ा देकर एक मास के बाद चला आऊँगा।”

मैं वहाँ से गया। मेरा समर्पण उस प्रथम भिक्खु में हो चुका था। और फिर मैं प्रीतम के लिए, प्रीतम

मेरे लिए, दोनों तरफ से रहे। प्रेम तो दो तरफ का सौदा है न।...कालेज में एक बार पढ़ा था, दिमाग ने उसे माना भी था मगर दिल ने साक्षी नहीं दी थी। वह बात इस समय दिल से मानी कि—'Man's dis-appointment is God's appointment' (मानव की निराशा में है प्रभु का मिलन।)

गुरुदेव के खरणों में : महीने भर के बाद मैं फिर शान्ति निकेतन पहुँच गया। मुझ से कहा गया कि मैं आश्रम के विद्यालय में अंग्रेजी पढ़ाऊँ।^१ ऐसा आदेश देते वक्त गुरुदेव ने कहा : “हम प्रथम इन्सान हैं और बाद में विद्वान्।...यह हमेशा याद रखना।” (We are men first and scholars afterwards) और वे आगे बोलते ही रहे—

“प्रेम...! प्रेम...! प्रकृति से प्रेम, प्रभु से प्रेम और उसके बीच मानव से प्रेम।...जो इन तीनों को प्रेम करना सीख जाए वह, मैं कहूँगा, शान्तिनिकेतन का ध्येय सार्थक करेगा।”

इस तरह गुरुदेव ने मुझे सर्वांगी प्रेम की दीक्षा दी। प्रेम ही सब कुछ था—गुरुदेव के और शान्तिनिकेतन के जीवन में। प्रेम के माध्यम से ही शान्ति निकेतन का ध्येय आकार लेता था। और जहाँ प्रेम है वहाँ आत्मिक आजादी है। आजकल तो कालेजों में विद्यार्थियों को Steam Roller में एक समान बनाया जाता है। Standardization की ओर ध्यान दिया जाता है। परन्तु रोज के काम में routinism और Standardization ये दो दुश्मन हैं आन्तरिक जीवन के। अध्ययन-अध्यापन का कार्य तो निर्वन्ध और उन्मुक्त होना चाहिए। अध्यापकों को छात्रों के बीच आते ही ताजगी का अनुभव होना चाहिए। अध्यापक अपने जीवन में और प्रेम से पढ़ाएँ। छात्र भी गुरुजनों की कृपा से सीखें। आजकल तो कितनी किताबें और गाइड्स हैं...! उससे ससी अपने आप को ठगते हैं। आज ज्ञान देने के साधनों में सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन आदि बाहर में सब कुछ प्राप्त होता है लेकिन अन्दर कोई बैठा हुआ है, उसे इससे तृप्ति नहीं होती।

गुरुदेव अन्तरात्मा के लिए इस तृप्ति का, जीवन में ईश्वर के अनुभव का, लक्ष्य ले बैठे थे—शान्ति

निकेतन को लिए। वे कहते—

“The Students while staying here, may feel God's consciousness.” (यहाँ रहते हुए, विद्यार्थियों को परमात्म-चेतना का अनुभव होना चाहिए।)

और शान्तिनिकेतन के इस कार्य के पीछे वे ईश्वर की प्रेरणा ही पाते थे—

“This institution is in response to god's will, not mine.”

(मेरी नहीं, ईश्वर की इच्छा का प्रतिरूप है यह संस्था।)

× × ×

जब गुरुदेव गुनगुनाते थे : वर्षों पहले जब हम शान्तिनिकेतन में रहते थे तब कुछ दिन शाम को गुरुदेव हमें चाय पीने के लिए बुलाते थे।

एक शाम की बात है। हम सब गुरुदेव के सामने बैठे हुए थे। उन्होंने चाय का प्याला मेरे लिए आधा ही भरा था कि एकाएक उनका गुनगुनाना शुरू हुआ। सब धीरे-धीरे वहाँ से हट गए, मगर मैं एक द्रुत के नीचे खड़ा देखता रहा कि वे क्या करते हैं?...१५ मिनट तक वे ‘गुनगुन’ करते रहे, सिर हिलाते रहे, ताल देते रहे। जैसे ही गुनगुनाना बन्द हुआ, कुछ खिन्ने लगे। खिन्न लेने के बाद उन्होंने आवाज दी :

“बुलाओ दीनू बाबू को।”

संगीतज्ञ दीनू बाबू को गीत सिखाया गया। दूसरे दिन आश्रम के सब बच्चे वह गीत गाने लगे।

मैं गुरुदेव का यह सारा ‘गुनगुनाना’ देख रहा था। मगर हिम्मत नहीं हुई पूछने की कि, ‘आपको ऐसे समय क्या होता है?’ परन्तु कितने वर्षों के बाद एक दिन आखिर मैंने पूछ ही लिया :

“जब एक आप यह ‘गुनगुन’ करते हैं, तब आपको क्या होता है?”

गुरुदेव बोले :...मुझे क्या होता है, यह मैं विस्तार से नहीं बता सकता। क्यों और कब होता है यह भी नहीं कह सकता। यह गुनगुन कभी-कभी

अचानक होती है। तब ऐसा लगता है, जैसे दूर अदृश्य आकाश में कोई गीत गा रहा है। क्या गा रहा है, वह मुझे मालूम नहीं पड़ता। बस वह गाता रहता है और मैं उसके सुर की नक़ल करता हूँ। हाथ, पैर, सिर हिलाता हूँ और फिर शब्द आते हैं। शब्दों में मैं बाद में पंडिताई से परिवर्तन (हेरफेर) नहीं करता। प्रभु का दान समझकर उसे ले लेता हूँ।”^१

गुरुदेव की ‘गुनगुन’ का, काव्यानुभूति का, कुछ रहस्य पाकर प्रभु की महिमा में बारबार सोचता रहा।

पूर्व बंगाल में : गुरुदेव के पिता जी ने अपनी ज़मीनदारी के लिए शुरू में उन्हें पूर्व बंगाल भेजा था। इन दिनों की बात एक दिन वे अपने एक घनिष्ठ मित्र से कर रहे थे और मैं यह सुन रहा था :

“मैं पूर्व बंगाल में रहता था।...कई बार दिनों तक मैं किसी से कुछ बोला नहीं। मोन के इस जादू से मेरी कहानियाँ अच्छी कहानियों और कविता अच्छी कविताएँ बनीं...”

गुरुदेव की ‘गीतांजलि’ की कविताएँ और भजन, उपनिषद् के सूत्र के रूप में पाए जाते हैं। उन पर तैत्तिरीय, कठ, ईशावास्यदि उपनिषदों की छाप पड़ी है। और यह उनके पिता जी के उपनिषदीय ज्ञान के कारण हुआ इसलिए तो गुरुदेव कहते थे कि, “My father was a living commentary on the Upanishadas” मेरे पिता जी उपनिषदों के जीते जागते भाष्य स्वयं थे। फिर गुरुदेव ने दो विशेष प्रसंग कह सुनाए, जो इस प्रकार हैं :

पगली : गुरुदेव एक दिन थककर ऊपर की मंजिल पर खड़े-खड़े दूर कुछ देखा रहे थे। सहसा एक पगली स्त्री नीचे दिखाई दी और वह ऊपर आने के लिए सीढ़ी चढ़ने लगी। दरवान ने उसे रोककर हठारते हुआ कहा : “चली जाओ, चली जाओ यहाँ से !” और वह नीचे उतर गई। गुरुदेव को ऊपर से इसका पता चला और वह सोचने लगे :

“इस गाँव में यह पगली क्यों आ गई ? नीचे जाऊँ और पूछूँ ?” पर इतने में तो नीचे से वह बोली :

“दूसरी मंजिल से कब उतरोगे, ठाकुर ?”

गुरुदेव ये शब्द सुन चौंक उठे। वे नीचे उतरे।^२ प्रेम का मिलन ‘ऊपर’ थोड़े ही होता है। वह पगली वैष्णवी देखती रही। बोली : “मैं रोज यहाँ आती हूँ पर यह दरवान मुझे तुमसे मिलने नहीं देता।”

इस पर दरवान से गुरुदेव ने कहा : “जब कभी यह यहाँ आए तब उसे ऊपर आने देना।”

पगली उस वक्त तो न रुकी। फिर दूसरे दिन आई। सीढ़ी ऊपर चढ़ गई। पैरों में सेंडल-बेंडल नहीं थे। मुरझाए हुए फूल को अपने हाथ में लेकर वह रही। गुरुदेव काम में थे। बात करने की फुरसत नहीं थी। पगली कुछ देर बाद चली गई।...कुछ दिनों के बाद फिर वह आई। गुरुदेव लिखते ही बैठे रहे और पगली उनके कान में कुछ कह गईं...! क्या कह गईं ? यह मालूम नहीं। पर गुरुदेव ने कहा—

“पहले तो मैं कल्पना द्वारा सबके साथ एकता अनुभव करता था, परन्तु उस दिन से मेरी सबसे, एकता, सच्ची एकता, आन्तरिक एकता हो गई।”

चिट्ठी : दूसरी बात भी इसी गाँव की है। एक डाक वाला वहाँ रोज आता था। खुरहाल और गान-मस्त। गगन उसका नाम। एक दिन वह दरवान से गुरुदेव की डाक लेकर, गुनगुनाता हुआ आगे निकल गया। बड़े मधुर सुरों में वह गाता जाता था :

“आमार चीठी आशवे कबे ?”

गुरुदेव ने ये शब्द सुन लिए। दूसरे दिन उन्होंने उससे वह गीत सुना। सुनकर वे मन्मसुख हो गए और इसे अपने ध्यान का सूत्र बना दिया :

“कब आएगी मेरी चिट्ठी !”

जिम वक्त हमारा जन्म होता है, उस दिन ही हमारे साथ एक चिट्ठी भेजी जाती है। वह चिट्ठी कब,

१. “ऐसा लगता है, जैसे दूर अदृश्य आकाश में कोई गीत गा रहा है। क्या गा रहा है, वह मुझे मालूम नहीं। बस वह गाता रहता है और मैं उसके सुर की नक़ल करता हूँ। हाथ, पैर, सर, हिलाता हूँ और फिर शब्द आते हैं। शब्दों में मैं बाद में पंडिताई से परिवर्तन नहीं करता। प्रभु का दान समझ कर उसे ले लेता हूँ।” २. “दूसरी मंजिल से नीचे कब उतरोगे ठाकुर ?”

किस जन्म में, पहुँचेगी ? इसी प्रसंग से गुरुदेव को अपने सर्वोत्तम नाटक 'डाक-घर' (पोस्ट ऑफिस) की प्रेरणा मिली।

गुरुदेव के पूर्व बंगाल के जीवन का यह दूसरा महत्वपूर्ण प्रसंग था।

पोस्ट ऑफिस : एक बार गुरुदेव ने कहा था : "मेरा साहित्य समझने के लिए 'पोस्ट ऑफिस' पढ़ो ! मेरा साहित्य का एक ही उद्देश्य रहा है—To relate the Finite with the Infinite and Infinite with the Finite. (सान्त का अनन्त के साथ और अनन्त का सान्त के साथ सम्मिलन।)"

बाँस की लकड़ी में जब तक छेद नहीं थे और जब तक वह बाँस की थी, तब तक वह नापी जाती थी, परन्तु छेद करने के बाद जब वह 'बाँसरी' बनी और जब श्रीकृष्ण उसमें से तान छेड़ने लगे, तब उसमें से सुनाई देने वाले गीतों को थोड़े ही नापा जाता है ? सान्त में से अनन्त की धारा इसी तरह ही बह निकलती है। साहित्य का सार यही है।

'डाक-घर' (पोस्ट-ऑफिस) में गुरुदेव ने 'सान्त' में से 'अनन्त' का, 'सीमा' में से 'असीम' का, दर्शन करवाया है। एक बीमार लड़का है। उसके कमरे की खिड़कियाँ सब बन्द कर जाते हैं। लड़का रोज़ कहता है—'एक खिड़की आधी सी खोल जाओ।' आधी खिड़की खोली जाती है। उससे वह दूर का पहाड़ देखता है, प्रकृति को देखता है, मनुष्यों को देखता है, दूर से दही बेचने वाला आता है, उसे देखता है और उससे दही बेचना सीखता है। इस तरह वह हरेक के काम में दिलचस्पी लेता है और नई-नई बातें सीखता है।

जो कमरे में रहता है, बन्द रहता है, वह कुछ नहीं पाता। जो दरवाजा खोलता है, खिड़की खुली रखता है, सीमा के पार असीम को देखता है, उसे कुछ दर्शन होता है। खिड़की को खोलते ही असीम की,

अनन्त की, भाँकी होती है।

एक बार, अपनी मृत्यु से कुछ दिन पहले ही गुरुदेव शान्तिनिकेतन में इसी खेल का नाश्यामिनय करवा रहे थे। एकाएक वे गुनगुनाने लगे और उन्होंने बाजू के कमरे में जाकर गीत लिखा—'सम्मुखे शान्ति पारावार...!'

गीत दूसरे दिन शान्तिदेव घोष को सिखाया गया और नोटेशन लिखवा कर लिफाफे में बन्द करवाया गया। बन्द लिफाफा शान्तिदेव को देते हुए गुरुदेव ने कहा—'जिस दिन मैं मर जाऊँ, उस दिन इसे खोलना।'

गीत में उस 'अनन्त कर्णधार' के प्रति दर्दभरी आराज्य थी : 'मेरी नाव के खिवैया ! अब तक तेरा दर्शन नहीं हुआ...कब होगा ? कब होगा ? ले चलो मेरी नैया को—तुम्हारे शान्ति-सागर में। तुम्हारे विराट् विश्व से मुझे एकरूप कर दो...तुम्हारे अनन्त स्वरूप में मेरा यह सान्त व्यक्तित्व मिला दो...!'

असीम की ओर, अनन्त की ओर, गुरुदेव ने किया हुआ इशारा मध्ययुग के एक भक्त के गीत में बड़े सरल भाव से समझाया गया है। उसका भावार्थ है—

'रे पत्नी ! तुझे क्या हुआ ? सारी रात तू अपने घोंसले में था उस समय तो एक गीत भी तूने नहीं गाया। सारी रात घोंसले में तू चुप पड़ा रहा। वहाँ आराम था, यहाँ खतरा है। अब तू यहाँ बाहर आकाश में निकल आया है...! और जब तू बाहर आता है तभी ही तू गीत गाता है। वहाँ आराम था, यहाँ खतरा है।'

पत्नी ने जवाब दिया :

'हृद से हृद में दिन बीता जब,

भोग बहुत हम पाया;

हृद से अनन्त में जब मैं हूँ,

तब ही आपा पाया,

तब ही आपा गाया !"

६६८, हिमायतनगर,
हैदराबाद

प्रवक्ता : गुरुदयाल मल्लिक
अनुलेखक : प्रताप टोलिया

इन्सान की कुव्वत में मेरी आस्था अडिग है; क्योंकि उसके दुबले-पतले शरीर में मस्तिष्क नाम की एक ऐसी बेमिसाल चीज है, जो कोई बन्धन स्वीकार ही नहीं करती।

—जवाहरलाल नेहरू

नई हिन्दी कहानियों की विकृत उपलब्धि

‘कहानी’ मासिक द्वारा बहु प्रचारित नवीन कथाकार श्री मधुकर गंगाधर का नया कहानी संग्रह ‘तीन रंग तेरह चित्र’^१ को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। संग्रह की तेरह कहानियों में अधिकांश कहानियाँ ‘कहानी’ मासिक में प्रकाशित हो कर संपादक, आलोचक और पाठक की राय भी प्राप्त कर चुकी हैं। इन कहानियों के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, तथापि इस संग्रह की भूमिका को देख कर कुछ प्रश्न स्वाभाविक ढंग से सामने आते हैं। इसलिए लेखक द्वारा उद्भावित उसी वर्ग के अन्तर्गत रख कर इस संग्रह की समीक्षा का प्रयास किया जाएगा।

संग्रह के नाम के अनुसार तीन रंग की तेरह कहानियाँ इस पुस्तिक में संगृहीत हैं—ग्राम केन्द्रिक की कहानियाँ, नागरिक जीवन पर आधारित कहानियाँ, और प्रतीकात्मक कहानियाँ। आज की नई हिन्दी की कहानियों में इन्हीं तीन तत्वों की प्रधानता पाई जाती है। इसीलिए यह संग्रह नई हिन्दी कहानियों के संग्रहों में स्थान रखता हुआ ऐतिहासिक समीक्षा की माँग करता है।^२

भूमिकाएँ अक्सर कहानियों को समझने में सहायता पहुँचाती हैं। प्रस्तुत कहानीकार ने धरोदानुमा इस संग्रह की भूमिका न लिख कर, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार श्री फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-शिल्प पर विभ्राट् व्यंग्य करते हुए आप मियाँ मिट्ठू बनने का प्रयास किया है। यद्यपि इन प्रकार की चर्चा उछालने से रेणु का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, तथापि लेखक रेणु के जिस भाव, भाषा, शिल्प आदि से प्रभावित है, उसकी स्वीकारोक्ति को प्रमाणित करने के लिए उसकी यह भूमिका काफ़ी है। लेखक ने यह भी प्रयास किया है [उसकी अभ्यन्तर मनोकामना] कि ग्राम केन्द्रिक कहानियाँ लिखने में पूर्णियाँ अंचल के प्रतिनिधि कहानीकार के रूप में उसे ही मान्यता दी जाए, क्योंकि रेणु ने उस अंचल के जीवन का ‘केरी केचर’ और ‘रसलीला’ प्रस्तुत

की है, परन्तु मधुकर जी उस रसलीला को यथार्थ और अॉचलिकता का पुट देना चाहते हैं। उनका कहना है—ग्राम केन्द्रिक कहानियाँ लिखने की प्रेरणाओं में फणीश्वरनाथ रेणु भी एक हैं। जिन्होंने शहरी टेबुल पर विभागीय हस्तलाघव द्वारा, वेश्या और विकलांग संस्कृति^३ की कथा मूर्ति रची और पूर्णिया का लेबुल चिपका, फ़िल्मी गेस्टरबाजी^४—व्यावसायिक धूम धक्काओं से पूर्णिया का नाम उजागर किया। इस रोमान्स^५ प्रिय कथाकार ने लहलहाते खेत,^६ परती परात, टट्टी के घर, साग सकरकन्द के रीपोर्ताज तो सहृदय बन कर प्रस्तुत किए, किन्तु जब कभी आदमी की कहानी कहने का प्रयास किया, वे न ज़हरत से ज्यादा सटारिक हो गया और रस्टिक की खुरदरी खिन्दगी की चरम कला बिन्दु पाने के बजाए बौन खिन्मा,^७ अपभ्रंश प्रवृत्ति और बाल भावुकता हाथ लगी।

इन भूमिका में चिह्नित एवं अंकित एक-एक वाक्य खरब की व्याख्या अपेक्षित है। निवेदन है :

१. रेणु का प्रभाव लेखक स्वीकार करता है, परन्तु इस प्रेरणा को रेणु से अधिक उच्चतर महान और उदात्त मानता है।

२. मधुकर जी की भूमिका से स्पष्ट है कि अब तक उन्होंने अपनी कथा-रचना के लिए किसी देहाती टेबुल का निर्माण नहीं किया है।

३. संस्कृति सदैव विकलांग होती है। कश्चर पर लिखी गई किसी भी छोटी बड़ी पुस्तक से मधुकर जी को यह ज्ञान लेना चाहिए था।

४. पूर्णियाँ का लेबुल चिपका कर, फ़िल्म स्टंट कहानी गढ़ने की कला मधुकर की ‘खून’ कहानी में दर्शनीय है—

“हपोली चाय। हपोली से फ़लारी तक दो हजार बीघे जौ और गेहूँ क भूमते खेत।” मधुकर जी के परिचय से मिलाइए—गॉव फ़लारी यानी हपोली,

जि. पुरीयों। जगदेव बाबू के कृतिया अग्रणी को तेतर उस्ताद ने मार डाला—उसी प्रकार जैसे हैरत अंग्रेज फाहिरिंग पिक्चर में रोज होता।

५. शब्दकोश में 'रोमांस' का अर्थ फिर से मधुकर जी खोजें तो ज्यादा अच्छा हो। उनकी सहायता के लिए मैं—“New standard illustrated Dictionary and Encyclopaedia edited by Principal A. M. Williams, M. A., The Statesman Ltd. Calcutta, Delhi.... के पृष्ठ संख्या ७३६ को देखने का आग्रह करूँगा।

६. आगे रेणु की कहानियों के लिए जितनी विशेषताओं का प्रयोग किया गया है, उसी का सहारा काफ़ी मतर्क रहने पर भी, मधुकर जी ने किया है :

‘लहलहाते खेत’ और ‘परती परात’ का वर्णन देखिए। ‘बिशाल परती, जलते सितारे और अखण्ड नीरवता’।...और उसके बाद ध्यान के खेत—पृ. ६४।

सतविधिया परती और सात ताड़ के पेड़... जितन बाबू मुकदमा लबने जा रहा था।

पाठकों को कहना नहीं पड़ेगा कि मधुकर जी ने रेणु की ‘परती : परिकथा’ के अतिरिक्त किम उपन्यास से इम ‘काग भाखा’ कहानी के उपकरण जुटाए हैं ? मधुकर जी यदि प्रयास करते तो कम से कम जितने और ‘सतविधिया परती’ (तुलना कीजिए—‘परती : परिकथा’ के मुख्य पात्र जितेन्द्रनाथ मिश्र और उमके मुख्य विषय सात परती चक्र से।) का नाम तो हटाया जा सकता था, क्योंकि प्रयास करने का साह्य उनमें है और जब इसी प्रयास के द्वारा वे रेणु के साहित्य का अध्ययन कर संग्रह की आधी से अधिक मौलिक (?) कहानियाँ लिख सकते हैं तो नाम बदलना काठन नहीं था।

कहानी की शब्दावलिओं की तुलना कीजिए :

मधुकर जी लिखते हैं—“बरमग्यानी से दक्खिन सरसों के बीगन खेत।”

रेणु लिखते हैं : “धूपर, वीगन अन्तहीन प्रान्तर” रेखांकित शब्द दर्शनीय है।

७. आदमी की कहानी कहने विश्वास ने रस्टिक की खुरदरी जिन्दगी की कथा मधुकर जी से भी कहवाई, फलतः उनका स्वर भी आवश्यकता से अधिक स्वेरिक होकर यौन लिप्साओं और वेश्या जीवन के सेक्स

एपिसोड से भर गया। उदाहरण के लिए संग्रह की केवल तीन कहानी ‘दिबरी’, ‘काग भाखा’ और तीन लोक का राजा’ को ही लीजिए। ‘दिबरी’ का सवीत गाँव का शोहदा है, भुमहरनी सोनी खिनाल है, जो सवीत से प्रेम करती है। इसलिए गाँव के किसी व्यक्ति को उसके प्रति सम्बेदना नहीं है। प्रसव काल में कोई चमैन भी उमके पाप नहीं आती। आना भी नहीं चाहिए। किन्तु लेखक आदर्श की तिलांजलि देकर उससे सम्बेदना करता है। ‘काग भाखा’ की सनीचरी, बच्चों को ले भागने वाले, कनफटों की प्रेमिका है, जो केवल अपने प्रेमी सरदार प्रेम एवं वासना तृप्ति के लिए ही रतन को घर रास्ता दिखला देती है। अन्यथा उस पिशाचिनी में मानवता का लेश कहीं है ?

‘तीन लोक का राजा’ में बड़े धनिक की बेटी रानी केवल अपनी यौन लिप्सा को शान्त करने के लिए दिगम्बर को प्यार करती है। मूर्ख दिगम्बर रानी के द्वारा कहे गए वचन के अनुसार अब अपने को लोक का राजा ‘मानता’ है और कभी-कभी अपनी हालत जब सोचता तब पछताता है—ईह, चले थे तीनों लोकों का बनने—हलवाहा।’

फिर भी वह रानी की ‘क्रोटू’ सीने पर धर कर सोता है। भोला-भाला श्रमिक रानी की याद में पागल है, परन्तु रानी उसे भूल गई है, मालती, सोनी, सनीचरी रानी तीनों मिलकर भी आदर्श अथवा यथार्थ से उत्पन्न मृत्यु की मूर्ति सम्बेदना देने में असमर्थ हैं। कम वेश रूप में इनका कार्य वेश्या जीवन के निकट है। परन्तु रेणु की परिकथा की ताजमनी वेश्या होते हुए भी आदर्श की सबल स्थापना करने में है। उसे देख कर जितन की ममतामयी माँ याद आती है। वह जितन को पत्नी का प्यार भी देती है वह जितन को बहन का भी अधिकार रखती है और सच पूछा जाय तो ताजमनी ऐसी वहिन के संपर्क में आकर ही जितन आदमी बन सका। फिर उससे मधुकर जी की नायिकाओं के ‘रसोत्सव’ का ‘रसलिप्सा’ होना असंभव है। अतः मधुकर जी को प्राप्त केन्द्रिक कहानियों का केरिक्चर’ ही प्रस्तुत करते हुए रेणु का कृतज्ञ होना चाहिए।

अपभ्रंश के प्रयोग का लोभ संवरण भाई मधुकर जी भी नहीं कर सके—भाषा को भाखा, दुरमन को दुरमन,

सत्यनारायण को सतलरेन, पृथ्वी को पिरथी, दक्षिण को दक्खिन, जितेन्द्र को जितन, कामेश्वर को कामेसर आदि सैकड़ों शब्दों को अपभ्रंश बनाने का क्या रहस्य है? मातृ-मवारों में नाम लिखाना तो।

बृहत्तर मिथिल अंचल की कहानियाँ लिखने की ओर प्रयास एकमात्र नागार्जुन ने औपन्यासिक प्रेरणा दी, वह रेणु से हमें प्राप्त होती है उसके निहायत विकृत रूप मधुकर जी सिद्ध होते हैं। रेणु से पूर्व अथवा रेणु से समकालीन सन् ५० और लगभग आंचलिक कहानियाँ लिखने का आन्दोलन संपूर्ण हिन्दी लेखकों को प्रभावित करने लग गया था और जिपकी उपलब्धि विभिन्न अंचलों के कलाकारों के रूप में श्री कमलेश्वर, मार्करण्डेय, हर्षनाथ, शिवप्रसाद सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन, रेणु, श्यामल किशोर झा, अनुज शास्त्री, ठाकुर प्रसाद सिंह आदि हैं।

समकालीन हिन्दी कहानियों की प्रगति भी औपन्यासिक प्रगति के समानान्तर ही चल रही है। विशेष रूप से आज की कहानियों का शिल्प एवं विषयवस्तु औपन्यासिक शिल्प या विषय-वस्तु का ही पर्याय है। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि आज हमें हिन्दी कहानियों की दिशा में अग्रणी कहानीकारों की प्रवृत्तियों वही दिखाई देती है जो औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ हैं—हिन्दी के बहुत सारे आलोचकों ने कहानियों की इस नव्यतर प्रगति को नई कविता के वजन पर नई हिन्दी कहानियाँ कहना प्रारम्भ कर दिया है।^१ हालाँकि तथा कथित नई कविता^२ [जिसे मैं आधुनिक कविता कहना ज्यादा उचित समझता हूँ] में परम्परा के प्रति विद्रोह तथा नए अनवृक्ष प्रयोग करने का जो आप्रह है^३ वह नई कहानियों में नहीं मिलेगा। ऐसे प्रयोगों को सर्वथा क्लेशन भी नहीं कहा जा सकता और शिल्प का Exploitation भी नहीं माना जा सकता। डा. नामवर सिंह ने कमलेश्वर की सुप्रसिद्ध कहानी 'राजा निर बंसिया' की शिल्प विधि की व्याख्या करते हुए इसी ओर उल्लेख किया है। भैरवप्रसाद गुप्त, मार्करण्डेय, कमलेश्वर, श्यामल किशोर झा, शिवप्रसाद सिंह, रेणु आदि ने अपनी कहानियों में आंचलिकता और मिट्टी की सोंधी

गंध तथा बोलियों का वातावरण सृजन द्वारा स्थानीय रंग, यथातथ्य वर्णन, व्यक्त चरित्रों को भी सामाजिक बनाने का या देखने का जो प्रयास किया है वह प्रेमचन्द से सर्वथा भिन्न न होने पर भी नया अवश्य है। प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन या मानवीय जीवन के जिन स्तरों को नहीं छुआ, उसे इन कथाकारों ने और व्यापक बनाया।

सन् ५५ के लगभग आंचलिक जीवन पर लिखने वाले हिन्दी कथाकारों की दूसरी पीढ़ी आगे आती है जिसमें शेखर जोशी, खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर, प्रेमकुमार, प्रवासी, मधुकर, गंगाधर, प्रतिभालाल, गोविन्द झा, राजकमल आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन कथाकारों में से अधिकांश ने 'कहानी' मासिक के माध्यम से लिखना प्रारम्भ किया है।

मिथिला अंचल पर लिखने वाले नई धारा के कथाकारों में रेणु और श्यामल किशोर झा जितने सबल हैं मधुकर, गंगाधर उतने ही दुर्बल और कुत्रिम। मौलिकता इनमें नाममात्र को भी नहीं है। इसीलिए आंचलिक जीवन के अतिरिक्त जब कभी मौलिक कहानी लिखने का प्रयास इन्होंने किया है, वे अमफल हो गए हैं—जैसे इस संग्रह में संकलित 'प्रोफेसर साहब' कहानी प्रताप होटल के इस घामलेटी प्रभावहीन 'टैबुल टाक' को यदि कहानी मान लिया जाए तब तो कहानी लिखने के लिए माहिर्य का कोई विधान मानना उचित नहीं होगा। कुल मिला कर यदि इस संग्रह की कोई कहानी प्रभावित भी करती है तो इस पर रेणु का प्रभाव है। जिनके लिए रेणु ही बघाई के पात्र हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस संग्रह की बहुत सी कहानियाँ रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' से 'स्नेच' (Snatch) कर ली गई हैं। खेद की बात है कि तीन रंग की इन तेरह कहानियों में कहीं भी मौखिकता का लेश नहीं है।

कोई भी कहानी मन पर गूँज भी नहीं छोड़ती। साथ ही लेखक यथार्थता के फेर में पड़ कर आवश्यकता से अक्षिक 'साला' शब्द का प्रयोग करता है। दो चार कहानियों को छोड़ कर प्रायः सभी कहानियों में यह रोग असर कर गया है। रेणु अपनी कहानियों में पात्रों

१. दिसम्बर १९५७ की कहानी गोष्ठी में पढ़ा गया निबंध। २. हिन्दी में ऐसी चर्चा अभी अभी समाप्त हुई है।

३. डा. देवराज उपाध्याय ऐसी कहानियों को कार्पनिक स्टंट लिटरेचर कहते हैं।

की बातचीत या वर्णन के बीच, वर्णन की गम्भीरता, उलझन आदि को केवल तीन बिन्दियों के सहारे स्पष्ट करते हैं। जैसे 'कल्पना' १६५८ अप्रैल में प्रकाशित 'सिरपंचमी' का सगुन 'शीर्षक उनकी कहानियों में प्रयुक्त बिन्दिया' अथवा 'परती:परिकथा' में ऐसी तीन बिन्दियों का प्रयोग।

'काग भाखा' में इन्हीं तीन बिन्दियों का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। परन्तु मधुकर अपनी अन्य कहानियों में

इस तीन बिन्दी का निर्वाह नहीं कर सके हैं। बात साफ है कि—'काग भाखा' पर रेणु का अत्यधिक प्रभाव है। 'काग भाखा' के नायक रतन और 'परती:परिकथा' के जितन में अनुप्रास और अनुनासिकता का अच्छा मेल है। इसलिये मुझे ऐसा मानने में तनिक भी संकोच नहीं है कि यदि रेणु का आविर्भाव हिन्दी में नहीं होता तो संभवतः मधुकर का साहित्य विकास भी असंभव था।

भगवान पुस्तकालय,
भागलपुर

—विष्णु किशोर 'भेषन'

प्रति दिन एक सेव का सेवन

सेव में कई पोषक तत्व बहुत अधिक मात्रा में होते हैं जिनसे मस्तिष्क और रन्नायुओं को शक्ति प्राप्त होती है। सेवों से कई प्रकार के पेय और चाय तैयार की जाती है और उनसे अन्य भी कई वस्तुएँ तैयार की जाती हैं।

साइडर (मद्य) भी सेव से ही तैयार किया जाता है और साइडर सर्दी और जुकाम का घरेलू इलाज समझा जाता है। साइडर के साथ 'सेव का सिरका' भी बनाया जाता है। शरीर को पतला और हलका-फुलका बनाने के लिए भी सेव का सेवन और व्यवहार प्रति दिन बढ़ता जा रहा है।

रसोई घर में तो सेव सचमुच एक अमूल्य वस्तु है। उन लोगों की बात छोड़ दीजिए जो कि सेव को पचा नहीं सकते क्योंकि ऐसे लोग सचमुच भाग्यहीन हैं—सेव विश्व के प्रत्येक देश में पसन्द किया जाता है और उसका रुचिपूर्वक सेवन किया जाता है। यदि कच्चे सेव का मिठाई के रूप में व्यवहार किया जाए तो इससे शरीर को अनेक पोषक तत्व प्राप्त होते हैं और अनेक व्यक्ति सेव को इसी रूप में खाना पसन्द करते हैं। सेव की पुडिंग और 'पाई' भी तैयार की जाती है और वे भी बहुत रुचिकर होती हैं। सेवों को भून कर भी खाया जाता है। सेवों से अनेक प्रकार के पेय और भोज्य तैयार किए जाते हैं जो कि स्वास्थ्यप्रद गुणों से पूर्ण होते हैं।

—'वेजिटेरियन न्यूज़' से

लोक-गीतों में सोहर

लोक-गीत उन गीतों को कहते हैं, जिन्हें लोग गाँवों में खुशी में और मौज में आकर गाते हैं, जिन्हें स्त्रियाँ ब्याह, शादियों, जनेऊ, भूँडन, छेदन, बच्चों के पैदा होने की खुशियों में गाती हैं। ये गीत अपढ़ प्रामीणों के मुँह से अपने आप फूट निकलते हैं। इनमें उन लोगो के मन की खुशियाँ, दुःख-दर्द तो होते ही हैं, साथ ही हमारी संस्कृति का इन गीतों से पता भी लगता है। ये गीत किसी भाषा विशेष में नहीं लिखे जाते। ये लिखे जाते हैं, ममप्र जन-जीवन की अक्षय बोलती, चहकती जन-भाषा में। इस जनभाषा की न तो अपनी कोई खास लिपि है, और न कोई वर्णमाला ही। ये गीत करोड़ों जन-मानस के एक हृदय से निकल कर दूसरे हृदय में प्रावृष्ट हो जाते हैं और माँगलिक अवसरों पर अपने आप मुँह से निकल कर समाज का गौरव बढ़ाते हैं।

इन्हीं लोक-गीतों में एक गीत सोहर है। इसे प्रामीण स्त्रियाँ किसी के यहाँ लड़का उत्पन्न होने के सुअवसर पर गाती हैं। निम्न गीत में एक गर्भवती प्राम्या की मनोदशा का चित्रण किया गया है। काफ़ी रात बीत गई है, महिला कुशांगी होने के कारण अँगन में आकर बैठ गई, पेट में दर्द हो रहा है, घर के सभी लोग सोए हुए हैं। अब वह जगाए तो किसे जगाए; अन्त में वह अपने पति के पास जाती है और उनसे अनुनय विनय करती है। पति उत्तर देता है कि भगवान का दिया हुआ यह भार शनैः शनैः छूटेगा। इतने में ही पौ फटते ही पुत्र-रत्न उत्पन्न होता है, खुशियाँ छा जाती हैं। विशेष इस गीत में देखिए—

“एक तो मैं अँगवा के गातरि, दूजे गरभ संग,
तीजे में बैठि अँगनवाँ, मे कहिका जगावौं
सासु मोरि स्वाँवै कि नैनद गजोवरि,
बुरे सैया सोवते महलिया, मैं कहिका जगावौं
एक पगु धरति धरनि पर, दूजे महल पर,
तीजे पग धरति सेजरिया, हो राजा को जगावौं
पागु का पेंचु मम्हारौ, नैन दोव ख्वालो,
मरौं पेंजरवाके पीर, तिसरे हैके बैठेकु

तबै तो हमै फुसियायौ, बेरिया ख्वायौ,
मुसकवि बेहस्यौ, अब परा जियरै है गाढ़,
तिसरै हैके बैठेउ
छनिया होतिउ छपाइत, मरद बुलाइत,
विधिनाके बाँधी गठरिया, करै कर छुटै
भोर भए पौ फटतै कि होरिलैं जनम लीन्ह,
बजै लागि अँनद बाधाई कि गावैं मखि सोहर”

इस दूसरे सोहर में यह बतलाया गया कि प्राम्या सोते-सोते ही एकाएक ऐसे असह्य दुःख का अनुभव करती है, वह बेचैन हो उठती है। जब वह महल से चलने लगती है, तब नायक हाथ पकड़ कर उसके चले जाने का कारण पूछता है। नायिका बिना कुछ उत्तर दिये चली जाती है कि मार्ग में देवर मिल जाता है और वह भी भाभी के कुम्हलाए हुए मुख का कारण जानना चाहता है। नायिका सत्य सत्य बतलाने में संकुचाती है और असत्य बहाना बनाती है। किन्तु देवर सब समझ जाता है और वह भाई के उद्धार का मार्ग सुझाता है। विशेष नीचे देखिए :

“पान्दु ऐसी पतरी बहुरिया, कुसुम ऐसी सुन्दरि
चढ़ि गई पियाकि महालिया सोवैं सुख-नीदें
सोई भोई जब जागी, झरोरवन ठारी भई
छोड़ि दियौ अँचला हमरा, धरै हम जहबे
कि तोरी सासु जगावै कि ननद कुलावै
कि तोरे बारे होरिलवा जन्हैं लै बैठेअ
न मोरि सासु जगावै, न ननद बुलावै
न मोरे बारे होरिलवा, जियरा बैठिऊँ
द्वारे ते आए देवर राजा, बुरै हँसि पूँछै
भौजी, कम तोर बदन मलीन, कँवल नहीं विहँसै
देवरा, तोरे भैया बोले हैं बोल करेजे मोरे सालै
भौजी न हो मोरी भौजी—नहाय खोरि सुरिज मनाओ
होरिल होरिल तोरे होइहैं
सुरिज मनवही न पाएन कि होरिलैं जन्म लीन्ह
बजै लागि अँनद बाधाई, गावैं सरिव सोहर,
सात सबद सहनाई ससुर द्वारे बाजे, बहुत छवि लागै।”

कहा जाता है कि तुलसी ने रामको पुरुषोत्तम मानकर भगवान के रूप में समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई थी किन्तु इस लोकगीत से तो ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसी के अवतीर्ण होने के पहले ही राम राजा के रूप में ही नहीं अपितु भगवान के रूप में भी प्रतिष्ठापित थे, जिनका स्मरण भी किया जाता था।

इस गीत में यह बताया गया गया है कि राजा राम बैठे-बैठे दातून करते हुए सुख-मार्जन कर रहे हैं। पास ही में सोने के घड़े से सीताजी कुँए से पानी निकाल रही हैं। एकाएक राम उठकर सीता का हाथ पकड़ लेते हैं और उनसे अपना संदेश ले जाने के लिए कहते हैं। इसी प्रकार राम और सीता का आपस में बड़ी देर तक प्रेम-कलह होता रहता। अन्त में दोनों का आपस में समझौता हो जाता है। इतने में ही मोरे होने लगता है और सूर्योदय के साथ ही लव-कुश उत्पन्न हो जाते हैं; आनन्द छा जाता है।

“राजा दसरथ के सगरवा कि राम दातूनी करें
सोने के घड़लना सिताला देई फोकवन पानी भरें
लपकि रमनधरा बहियों, संदेशा मोरा सुनिलेव
छ्वाबो रमन मोरि बहियों कलैया मिरुकि जइहैं
तपि जइहैं राम रोंसयों भोजन कब होइहैं
न तोरि बहियों मिरुकि हैं, कलैया न टुरि हैं

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
वर्धा

हम तो चलने मधुबन का भोजन कोकरि हैं
जइसे रमन तुम्हारे घर रहे, वइसे बने गए
एकौ ललक नहिं पुरयौ अयोध्या के नायक
जइसे सिताला तुम्हारे घर रहे वइसे नैहर गए
एकौ न होरिल पजायौ सुनित सुख सोहर
राजा जनककी हम बिटिया सिताला मोरा नाव है
तुहारे में होरिला पजेहैं सुनेउ सुख-सोहर
दशरथ के हम बेटा राम मोरा नाम है
सोरहों ललक तुम्हारी पूरब अयोध्या के नायक हन,
होत मोर पी फरते लव-कुश जनम लीन्ह
बजै लागि आनन्द बधाई, गावै सखि सोहर
तरि बैकुण्ठे जाए, सुनैया फलु पावै”

तात्पर्य यह है कि इन लोक गीतों में करोड़ों अबोल-अनपढ़, ग्रामीणों का सुख-दुख, हास-परिहास, राग-रंग समायो हुआ है। ये दिन भर अनथक परिश्रम करने के बाद लोकगीतों की आलाप और गुंजार में अपना सब कुछ भूल जाते हैं। यही सोहर जब गाँव भर की स्त्रियाँ मिल कर एक साथ गाती हैं; तब सुनते ही बनता है। भला इन देहाती प्राकृतिक प्रोप्रामों की बराबरी शहर के रेडियो के प्रोप्रामों कैसे कर सकते हैं! रेडियो अधिकारियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार जहाँ एक ओर सरकार का लाभ होगा; वहाँ दूसरी ओर जनता का भी कुछ कम हित न होगा।

—सुरेन्द्र शुक्ल

कार्य और आनन्द

कार्य प्रेम का प्रत्यक्ष रूप है। यदि आप किसी कार्य को अवधि के साथ करते हैं—प्रेम के साथ नहीं, तो यह अच्छा होगा कि आप उस कार्य को करना छोड़ दें और किसी मन्दिर के दरवाजे पर बैठ कर उस व्यक्ति से भीख माँगे, जो कि अपने कार्य को पूर्ण आनन्द के साथ करता है।

—झरलीक जिज्ञा

कवयित्री का पति

[दो समानान्तर कक्ष। कक्ष के आगे ऑगन। बाँए हाथ वाले कमरे में अतिथि कक्ष की शोभा है। सोफासेट, रेडियो और अन्य अलंकारित वस्तुएँ। अतिथि कक्ष का बाहर से प्रवेश द्वार बाईं ओर से है और दाहिनी ओर से एक द्वार के द्वारा और दाहिने कमरे से जुड़ा है। एक कमरा शयन कक्ष है। इसमें एक पलंग दाहिनी ओर की दीवाल से लगा पड़ा है। सामने की ओर दो-चार ट्रंक रखे हैं। पलंग पर रजाई गद्दा आदि रखा है। यह कमरा दाहिनी ओर से घर के अन्य भागों से मिला है। ट्रंक के ऊपर बच्चा-सा शीशा लगा है और उसी के पीछे एक कंधा रखा है। ड्राइंग रूम में मीराबाई और निराला का चित्र लगा है। बीच की तिपाई पर कागज के फूलों का एक पुष्प-गुच्छ शोभायमान है। पर्दा उठने पर रजनीबाला श्वेत साड़ी पहने शयन-कक्ष में पलंग पर बैठी दिखाई देती है। वह किसी की प्रतीक्षा में रत है और उसका नोकर रामदेव ड्राइंग रूम में कुछ सफाई आदि करता दिखाई देता है। कुछ क्षण बाद घड़ी में टन-टन कर छः बजते हैं। घड़ी ऐसे स्थान पर लगी है जो दिखाई नहीं देती।]

रजनी : (चौक कर) अरे छः बज गए और उनका आना अभी तक नहीं हुआ (रामदेव को पुकारती है)। रामदेव ड्राइंग रूम से शयनकक्ष में आता है। रामदेव, देखो बाबू जी आते होंगे। आज पता नहीं, देर कहाँ लगी है। जाओ जल्दी से चाय तो तैयार करो।

रामदेव : बहू जी! चाय का पानी तो गरम हो रहा है।

रजनी : अच्छा। तुम तो अब बड़े चतुर होते जा रहे हो।

रामदेव : (हँस कर) हाँ बहू जी, बाबू जी इसी समय तो चाय पीते हैं न।

रजनी : हाँ...हाँ...!

[ड्राइंग रूम के द्वार पर तीन-चार व्यक्तियों के बोलने का शब्द और फिर द्वार की खटखटाहट। रामदेव दौड़ कर बाहर जाता है।]

एक व्यक्ति : [द्वार के बाहर से ही] रजनी

बाला जी हैं ?

रामदेव : [विस्मयमयी मुद्रा से सभी को देखते हुए] हाँ, हाँ, आप बैठिए, मैं अभी बुला देता हूँ, उन्हें।

[ड्राइंग रूम में तीन व्यक्तियों का प्रवेश। एक खद्दर के कुर्ते और धोती में है। पैर में गऊ रक्षा वाली चप्पल। सर पर गोंधी टोपी। दूसरा व्यक्ति बड़िया छास्टीन का पायजामा पहने है और सफेद बड़िया पाय-लीन की कमीज। पैर में पेटेंट पम्प जूता। आँख पर चश्मा लगा है जो आधुनिकतम स्टाइल का है। तीसरा व्यक्ति चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी में है। पैरों में अच्छा-सा फ्लेकम शू पहने है। सर पर साफ़ा है। पहले वाले दोनों व्यक्तियों से ये बृद्ध हैं। तीनों ही सोफे पर बैठ जाते हैं। थोड़ी ही देर में घड़ी में एक घण्टा बजता है। शेरवानी वाले सज्जन अपनी कलाई घड़ी देख कर कहते हैं—साढ़े छे बजे हैं। रजनीबाला शयन कक्ष में लगे शीशे और कंधे से अपने बालों को संवारने के पश्चात् तत्क्षण ड्राइंग रूम में प्रवेश करती हैं। तीनों ही व्यक्ति, उठ खड़े होते हैं और परस्पर अभिवादन होता है। रजनी और वे तीनों ही बैठते हैं।]

रजनी : [प्रसन्नता से] तो आप लोग अन्ततः आ ही गए। किन्तु यह किम अभियोग में मुझे पकड़ने के लिए पुलिस और दारोगा को साथ-साथ आना पड़ा [खद्दर वाले व्यक्ति की ओर देख कर हँसती है] 'जलज' जी आप तो पर्याप्त थे मुझे कवि सम्मेलन में ले जाने के लिए। बेचारे शर्मा जी [शेरवानी वाले व्यक्ति की ओर इंगित करके] को अनावश्यक कष्ट दिया।

शर्मा जी : अजी इसमें कष्ट की क्या बात है। कवियों और कवयित्रियों के दर्शन बड़े भाग्य से मिलते हैं। मैंने आपकी कविता उम दिन रेडियो में जब से सुनी, मुझे आपसे मिलने की विशेष उत्कण्ठा हो गई। आज मेरे छात्रों ने मुझे बताया कि उन्होंने आपको भी आप-न्त्रित किया है। मैंने सोचा, चलो जरा आपका घर ही देखता आऊँ। और फिर 'राकेश' जी [पायजामेवाले सज्जन की ओर इंगित करके] ने मुझ से यह कहा कि आप साधारणतः कहीं जाती नहीं हैं, आपने वचन दे

दिया था किन्तु फिर भी मैं अपने को रोक नहीं सका ।
(हँस कर, धीरे से) हमारे यहाँ तो ऐसी कवयित्रियाँ भी हैं,
जो मंच पर चलना तो दूर उनसे मिलने के लिए उनके
घर पर भी जाइए तो उन्हें मिलने का मूड नहीं रहता ।
मैंने सोचा, कहीं मूड का प्रश्न खड़ा हो गया...तो ।

रजनी : नहीं, नहीं, ऐसी तो कोई बात ही नहीं ।
आप आ गए, अच्छा ही किया किन्तु यहाँ मूड का
प्रश्न खड़ा होता (जलज की ओर देख कर) क्यों जलज
जी ! और फिर आप जानते होंगे कि...

शर्मा जी : कि आप जलज जी का अप्रह
शायद ही कभी टालती हैं । ठीक ही है, जलज जी
अपना स्थान कम थोड़े ही रखते हैं (सभी
हँसते हैं)

राकेश जी : (आँख बंद कुछ व्यंग्यात्मक चुटकी
लेकर) अहा हा, अहा हा । क्या बात है जलज जी की ।
पेदाइशी कवि ॥

(सभी और जोरों से ठहाका लगा कर हँसते हैं)

रजनी : (रामदेव को बुला कर) देखो, जल्दी से
तीन कप चाय तैयार करो ।

रामदेव : बहुत अच्छा (वह ड्राईंग रूम से शयन
कक्ष में आता है और शयन कक्षा से अन्दर चला
जाता है.)

शर्मा जी : यह शिष्टाचार मुझे पसंद नहीं, भला
चाय की क्या आवश्यकता थी । मेरे विचार से अब
आप चलिए (घड़ी में टनटन कर सात बजते हैं) वह
देखिए सात बज गए । साढ़े सात से तो कविता पाठ
आरम्भ हो जाएगा । कुछ पहले से न पहुँचेंगे तो फिर
उद्घाटन आदि में सम्मिलित न हो पाएँगे ।

रजनी : एक नमट में चाय आती है (रामदेव
चाय की ट्रे लेकर कक्षा में प्रवेश करता है) वह देखिए
आ गई ।

(ट्रे मेज पर रखी जाती है और शीघ्र ही सबके
प्याले में चाय जाती है । वे सब चाय पीना प्रारम्भ
करते हैं)

शर्मा जी : (चाय की चुस्की लेते हुए) वाह, चाय
तो बहुत बढ़िया बनी है, किन्तु अब देर हो रही है ।
जल्दी में चाय का मजा भी नहीं ले सकता । रजनी जी !
अब आप तुरन्त तैयार हो आइए ।

रजनी : (मुस्कराते हुए) मैं तो तैयार हूँ शर्मा जी,

किन्तु घर किस पर छोड़ूँ ? उनसे कहा था कि आज
जरा जल्दी आ जाएँ, तो आज उन्होंने और देर लगाई ।

शर्मा जी : ओ, तो यह बात है । चाय पिलाने
के बहाने कमल बाबू की प्रतीक्षा की जा रही है । मैं
चाहता हूँ कि काम समय से हो । हमारी संस्था का यही
आदर्श रहा है (कुछ रुक कर) आपका रामदेव तो
समझा हुआ नौकर मालूम पड़ता है ।

रजनी : हाँ हाँ सो तो कोई बात नहीं किन्तु...

शर्मा जी : (बात पकड़ते हुए) किन्तु अब हम
लोग नहीं सुनने के (जलज की ओर देख कर) क्यों जी
जलज ! बोलो न, तुम लोग यहाँ आकर तो ऐसा चुप हो
गए हो कि...

जलज व राकेश : हाँ, हाँ रजनी जी ! अब आप
तुरन्त चल दीजिए । (तीनों व्यक्ति ठठ कर खड़े होते हैं ।
घड़ी में साढ़े सात बजता है । रजनी भी तुरन्त ठठ
खड़ी होती हैं)

शर्मा जी : लीजिए साढ़े सात बज गए ।

रजनी : हाँ, सचमुच बड़ी देर हो गई (रामदेव
को बुलाती हैं) ।

(रामदेव आता है)

जलज : रामदेव देखो ! बाबू जी तो अभी तक
नहीं आए । मे जा रही हूँ, घर देखना । साढ़े आठ तक
मे लौट आऊँगी (शर्मा जी की ओर देख कर) क्यों
शर्मा जी ! जल्दी छुटी दीजिएगा ना ?

जलज : (सींच में बोलते हुए) हाँ हाँ, वहाँ देर ही
कितनी लगेगी । आपकी कविता जहाँ समाप्त हुई,
आपको घर पहुँचाने का तुरन्त प्रबन्ध किया जायगा ।

राकेश : अरे ! मे पहुँचा दूँगा, सम्भव हुआ तो
आठ ही बजे । बस आप चली चलिए ।

शर्मा जी : (रामदेव से) देखो घर ताकता आए ।
मे अभी रजनी जी को पहुँचा जाऊँगा । बाबू जी मे
कहना; चिन्ता न करें ।

(रामदेव केवल सिर हिला कर स्वीकृति देता है
और वे चारों प्रस्थान करते हैं ।)

(मंच पर केवल रामदेव है । वह कुछ गुनगुनाता
है और उसी समय बाहर से रामदेव को पुकारने की
आवाज होती है । आँखों को आसमान की ओर घुमा
कर उत्तर देता है—आया बाबू जी ! द्वार का पर्दा
हटाता है और कमल बाबू अतिथि कक्षा में प्रवेश करते

हैं। वे ऊपर से नीचे तक सूट-बूट और टाई में सजे हुए हैं। कक्ष में आते ही हैट उतार कर रामदेव को पकड़ते हैं और चश्मा हाथ में लेते हुए शयन में आते हैं।

कमल बाबू : (इधर उधर देखते हुए) बहू जी कवि सम्मेलन में चली गई क्या ?

रामदेव : हाँ बाबू जी, अभी तो गई हैं। आप को तो बहुत देर से लख रही थीं। आज आपने बड़ी देर की।

कमल : हाँ, भई सरकारी अफमरी है, कोई खेल थोड़े ही है। सारे बाबू पाँच बजे तक का बोम मेरी मेज पर पटक जाते हैं तो फिर सात बजे तक बैठ कर हमें देखना ही पड़ता है। अच्छा ! कुछ चाय-वाय तैयार है ?

रामदेव : अरे (घबड़ा कर) अभी तैयार करे देता हूँ। मेन तो चाय तैयार करी थी मुदा बहू जी को, जो लाग लेते आए थे, ऊ सब पी गए।

कमल : हूँ। खैर, चाय पी गए तो कोई बात नहीं, ये आने जाने वाले मेरी गृहस्थी ही न पी जाएँ। संसार के सब तमाशे जब खत्म हो चुके हैं तब निकला है कवि-सम्मेलन। ठीक है, उन्हें जिनसे वादवादी मिलती है, उन्हीं की सेवा में रत रहती हैं। (सिर खुजला कर) तीन साल विवाद के हुए और एक हुए और एक दिन भी गृहस्थी की चिन्ता न की गई (कपड़े उतारते हुए) रामदेव ! किस समय आने को कह गई हैं ?

रामदेव : साढ़े आठ बजे।

कमल : अच्छा जल्दी से चाय लाओ।

रामदेव शयन कक्ष के दाहिने द्वार से अन्दर जाता है और कमल पतलून आदि उतार कर स्वच्छ धोती पहनते हैं। शीशे में अपना चेहरा देख कर कई प्रकार से मुँह बनाते हैं। फिर पंलग पर बैठ कर अपना सिर खुजलाते हैं। चिन्तामयी मुद्रा से अभिनय करते हुए पंलग पर रखी हुई एक पुस्तक को उठा कर देखना शुरू करते हैं। थोड़ी ही देर में रामदेव चाय की ट्रे लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होता। वे तुरन्त क्लाव को बन्द करके एक ओर रख देते हैं और ट्रे को एक तिपाई पर रख लेते हैं। चाय कप में ले कर पीना शुरू करते हैं। इसी समय घड़ी में आठ बजते हैं।

कमल : रामदेव, जरा रेडियो लगाओ तो, देखें शायद अच्छा कार्यक्रम हो।

रामदेव : अच्छा बाबू जी (वह अतिथि कक्ष में जाकर रेडियो बजाते हैं।

(रेडियो पर दो गीत बजते हैं, वस्तुतः यवनिका के पीछे से गाए जाते हैं। वक्ता कहता है—‘यह विविध भारती का रंगारंग कार्यक्रम है। अब आप रेडियो कलाकारों द्वारा तैयार किए गए संगीत का रस-पान कीजिए। गीत है वियावती कोकिल का। संगीत निर्देशन श्री मुजहिद नियाजी ने किया है और गायिका हैं कुमारी मीनाक्षी, गीत बजता है। इस समय रामदेव मंच छोड़ कर अन्दर चला जाता है। रेडियो के वाचक का शब्द फिर सुनाई देता है—‘अब आप सुमित्रा कुमारी सिनहा का गीत सुनिए। इसके संगीत निर्देशक हैं अफजल हुसेन और गायिका हैं कीर्ति श्रीवास्तव। दुबारा गीत भी होता। पाँच मिनट में गीत समाप्त होता है। वक्ता फिर बोलता है—‘यह कार्यक्रम बम्बई से विविध भारती के अन्तरगत आप सुन रहे हैं। अभी आप दो गीत सुन रहे थे। अब कवि शंकर के निर्देशन में तैयार किया हुआ वाद्य वृन्द के साथ नृत्य—धुन सुनिए। उत्तर प्रदेश के लोक नृत्य के आधार पर प्रस्तुत हैं। कमल बाबू लोक नृत्य का नाम सुनते ही रामदेव को बुलाते हैं।

कमल : रामदेव, देखो यह तुम्हारे मनलब की चीज बजने जा रही है। जरा यहाँ आकर अपने गॉव का नृत्य तो दिखाओ।

रामदेव : (अन्दर से ही) नहीं बाबू।

कमल : नहीं क्या, पहले तो बहुत नाचते थे (रेडियो पर धुन बजने लगता है) देखो कितना बढ़िया बाजा बज रहा है।

रामदेव : (अन्दर से ही) वाह, वाह बाजा तो बढ़िया बज रहा है। अभी आया बाबू जी, जरा कपड़े बदल लूँ।

(रामदेव नाच करने की मुद्रा के साथ मंच पर प्रवेश करता है और हास्यरस का वातावरण उपस्थित करता है। जैसे ही नृत्य समाप्त होता है, घड़ी में टन से एक घंटा बजता है। कमल बाबू रेडियो बन्द कर देते हैं। रामदेव फिर भी नाचता रहता है।)

कमल : (रामदेव को रोकते हुए) बस भाई बस,

नाच बन्द करो। देखो सादे आठ बज गए हैं। कवियित्री जी अभी तक नहीं आई हैं।

रामदेव : (नाच की मुद्रा से रुक कर) हाँ, पर आती ही होंगी।

कमल : कुछ खाने का प्रबन्ध कर गई हैं ?

रामदेव : खाना पकाने वे जा ही रही थीं कि वे तीन आदमी आ धमके और फिर तो उन्हीं को चाय खातिरी में बहुत-सा बख्त निकल गया।

कमल : देखो जब तक बहू जी आ न जाएँ, तुम्हें घर नहीं जाना है।

रामदेव : बहुत अच्छा (शयन कक्ष के द्वार से वह अन्दर जाता है।)

(कमल बाबू रजाई ओढ़ कर पलंग पर बैठते हैं और किताब पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। थोड़ी ही देर बाद घड़ी में नौ घण्टे बजते हैं। कमल बाबू किताब रख कर रजाई के बाहर आते हैं और रामदेव को फिर बुलाते हैं।)

कमल : रामदेव ! (और जोर से) रामदेव !!

रामदेव : (अपने पहले वाले कपड़ों में) जी बाबू जी।

कमल : देखो नौ बज गए हैं। मुझे तो कुछ भूख लग रही है।

रामदेव : हुकुम हो तो अभी पूड़ी सेंक दें।

कमल : नहीं, जाओ लक्षा दलवाई के यहाँ से चार कचोरियाँ और दो पूरियाँ ले आओ।

रामदेव : अच्छा जैसा आप कहें। दाम दीजिए।

कमल : (रामदेव के मुख की ओर कुछ देर देख कर, मुँफलाहट से) नहीं रहने दो।

रामदेव : क्या, क्या हुआ बाबू जी ?

कमल : कुछ नहीं, रहने दो, मैं कुछ नहीं खाऊँगा।

रामदेव : जाऊँ, बहू जी को बुला लाऊँ क्या ?

कमल : नहीं (व्यंग से) कवियित्री जी को कविता ही करने दो। वह मेरी कुछ नहीं है। वे तो समाज और साहित्य की निधि हैं।

(रामदेव अपनी आँखों को चारों ओर घुमाते हैं। कमल बाबू पुनः पलंग पर चढ़ कर पुस्तक पढ़ने का प्रयास करते हैं। दम-बारह पन्ने जहरी-जहरी पलटते हैं। घड़ी में माढ़े नौ बजते हैं।)

कमल : (लेटे-लेटे ही) रामदेव देखो। सादे-नौ

बज गए हैं। अब रात अधिक हो रही है। तुम जा सकते हो।

रामदेव : अच्छा, कुछ देर बुत-सा खा रहा हूँ।

कमल : जाओ न, क्या बात है जो...

रामदेव : आप कहें तो बहू जी को बुला लाऊँ।

कमल : फिर वही बात, तुमको क्या पड़ी है ?

उनकी तपस्या में विघ्न डालने से लाभ ?

रामदेव : नहीं, नहीं हमें तो आपकी रोटी की किकर...

कमल : मैत्र में हूँ। मालूम नहीं, कवि सम्मेलन के दिन पर्व के दिन होते हैं और पर्व में मुझे भूखा रहना ही चाहिए। भाग जाओ तुम। खाना नहीं चाहिए।

(रामदेव विवशता का प्रदर्शन करता हुआ अथिति कक्ष में आकर बाहर चला जाता है और कमल घूर-घूर कर उसे तब तक देखते रहते हैं जब तक वह घर के बाहर नहीं ही जाता। वे उठ कर द्वाग बंद करते हैं। पलंग पर आकर फिर किताब की ओर ध्यान लगाते हैं। कुछ ही देर में जब दृष्टि ऊपर उठाते हैं तो घड़ी दस बजाती है।)

कमल : (सिर खुजला कर) दस बज गया (किताब बन्द करके रख देते हैं। प्रतीक्षा का पूर्ण अभिनय। पलंग को छोड़ कर कमरे में इधर से उड़लते हैं। रेडियों को पुनः बजाते हैं।)

(रेडियों से वक्ता का स्वर सुनाई देता है—यह सीलोन का व्यापार विभाग है। अपनी घड़ियों का समय रोलेक्स में मिला लीजिए। भारतीय समयानुसार इस समय १० बज कर २० मिनट २२ सेकेंड हुए हैं। अब आप लता मंगेशकर के कुछ गीत सुनिए। रिकार्ड बजने लगता है। रिकार्ड के समाप्त होते ही घड़ी में एक घटा बजता है।)

कमल : ओ मेरी घड़ी कुछ स्लो चल रही है। (लता मंगेशकर का दूसरा गाना बजता है। दूसरा समाप्त होते ही रेडियों बन्द का पलंग पर फिर लेते जाते हैं। सिर से पैर तक रजाई ओढ़ कर थोड़ी देर अनेकानेक करवटें बदलते हैं। घड़ी में ११ बजते हैं। कमल बाबू चुपचाप पड़े रहते हैं। थोड़ी देर में द्वार की कुएही खड़काने का शब्द होता है। तीन चार व्यक्तियों की बात करने की ध्वनि आती है। कमल बाबू लेटे-लेटे

ही रजाई से सिर निकाल कर कहते हैं—मालूम होता अब भी उनकी और मेरी मुलाकात नहीं हो सकेगी। वे उठ कर किवाच खोलते हैं। रजनी, जलज, राकेश तथा एक नया व्यक्ति साथ साथ अतिथि कक्ष में प्रवेश करते हैं। कवियों और कवयित्रियों के काव्यों, भावों और भाषा की चर्चा होता है। सभी सोफे और कुर्सियों पर बैठे जाते हैं। कमल बाबू की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता और कमल बाबू उपेक्षा से भर कर कक्ष शयन में तुरन्त आ जाते हैं। रजनी कक्ष में आकर सैलिल उतारते हुए कमल की ओर मुस्करा कर देखती हैं।

रजनी : (कमल के कंधों को छूकर) जरा बाहर लोगों को बिदा कर दें। अभी आती हूँ।

(कमल बाबू क्रोध से केवल अपना हाँठ काटते हैं किन्तु रजनी पुनः अतिथि कक्ष में चली जाती हैं।)

जलज जी : (नए व्यक्ति की ओर देख कर) क्यों भाई 'जयविशाल' जी आज का कवि सम्मेलन जमा तो खूब।

जयविशाल : (पूरा शरीर हिला कर) अभी आज की बात ही क्या है। रजनी जी ने तो मेच के सभी सितारों को मानो प्रकाश प्रदान कर दिया हो। श्रोता-गण तो मन्त्र-मुग्ध ही हो गए थे।

राकेश : भई बात यह है कि (रजनी बाला की ओर हाथ कर) आपके गले में माधुर्य इतना है कि नीरस पंक्तियाँ भी सरस हो जाती हैं।

जयविशाल : बस बस कह गए आप। ऐसा सुन्दर वातावरण बनता है कि...कि...भाई वह कोकिल जी की कौन सी लाइन है ?

जलज : मे बताऊँ,—'रस बरसे मे भीजूँ !'

जयविशाल : हाँ, रस बरसे मैं भीजूँ।

रजनी : (हँस कर) क्यों मुझे आकाश पर ले जा कर आप लोग छोड़ना चाहते हैं। मैं तो जयविशाल जी की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकती (जयविशाल की ओर देख कर) आप भी प्रबल साधक हैं। खड़ी बोली में अलंकार और अनुप्रास का ऐसा रूप बाँधते हैं कि...।

राकेश : (बीच में ही) आधुनिक 'भूषण' कहे जाएँ तो अतिशयोक्ति न होगी।

जलज : खैर मैं तो जयविशाल को भूषण की जगह भौंड ही कहूँगा।

जयविशाल : (अबरदरती हँस कर) भूषण कहें

या भाँड़, मैं तो किसी का घुरा मानता नहीं।

रजनी : नहीं, आप तो सचमुच बहुत अच्छा लिखते हैं। आप अपनी कविताओं का संग्रह क्यों नहीं प्रकाशित करवाते। अपनी रचनाएँ पत्रिकाओं में भेजा करिए।

जयविशाल : अजी साहब ! कौन पूछता है हम जैसे को ? सम्पादकों को जब तक सोहराया न जाए वे किसी को मानते ही नहीं। यहाँ तो जवाबी कार्ड भेजने पर भी सम्पादक गण उत्तर नहीं देते।

(कमल बाबू शयन कक्ष में बैठे ही बैठे बातें सुन-सुन कर केवल तरह तरह के मुँह बनाते हैं और बीच बीच में ऐसा अभिनय करते हैं, जिससे बोध होता है कि वे चाहते हैं, यह लोग किसी प्रकार से जाएँ।)

रजनी : प्रारम्भ में तो सम्पादकों के मित्राज सद्मे ही पड़ते हैं। मेरी तो एक भी कविता सम्पादक की सात चिट्ठियाँ आप बिना नहीं भेजी जाती।

जयविशाल : अपनी बात जाने दीजिए। आप पर तो सिद्ध-कवयित्री की मुहर लग चुकी है। अब आप छौंक भी दीजिए तो सम्पादकों को नव-रस का बोध होता। रंग-विरंगे चित्र आपकी कविता के पार्श्व में भोंकेगे।

जलज जी : (सिर हिला कर) हाँ यह बात तो मैं भी कहूँगा। स्मदित्य के क्षेत्र में सिक्का जम जाने की बात है। अधिकतर सम्पादक नाम पर मरते हैं। नए साधकों की कृतियों का मूल्यांकन करने का उन्हें समय ही नहीं रहता।

रजनी : कुछ भी हो, मुझे तो जयविशाल जी की आज की दोनों कविताएँ बड़ी पसन्द आई।

जयविशाल : (हँसे करके) यह तो आपकी कृपा दृष्टि है। मैं आपसे कुछ अप्रग्रह करना चाहता हूँ।

रजनी : कहिए, कहिए।

जयविशाल : कल आपको निमन्त्रण देना चाहता हूँ। मेरे कालिज में कल वार्षिकोत्सव है और वहाँ हम लोगों ने एक कवि सम्मेलन का आयोजन भी रखा है। आप यदि सभानेत्री पद को.....।

रजनी : सभानेत्री ! और मैं ? न बाबा मुझे इतना बड़ा भार न सौंपें। मैं तो इस योग्य ही नहीं हूँ।

जलज : रजनी जी ! इस समय जयविशाल जी की बात मान जाइए। आप उनके अप्रग्रह को मान जाइए।

जयविशाल : हाँ रजनी जी। आपकी बड़ी कृपा होगी। आपके आते ही मंच का आधा श्रृंगार हो जाता है।

राकेश : इस सम्बन्ध में तो मैं भी जयविशाल जी का समर्थन करूँगा। बात यह है कि साहित्यिक गोष्ठियों के इस जमाने में जयविशाल जी का झरझरा बहुत ऊँचा रहा है।

रजनी : अच्छा, जब आप सबका यही आग्रह है तो... सम्मेलन कैसे बजे से है ?

जयविशाल : १२ बजे दो-पहर से। हम लोगों ने ऐसा समय अपनाया है कि कार्यक्रम में सम्मिलित होने में किसी को कठिनाई अनुभव न हो।

(शयन कक्ष में कमल—हे भगवन् मेरी भी कठिनाई कोई जानने वाला है।)

रजनी : अच्छा ठीक है। लेकिन देखिए मुझे अधिक समय नहीं है आज की तरह न हो कि दो घण्टे चाय-पाई में ही लग गए।

जलज : दो घण्टे तो नहीं लगे (हँस कर) हाँ, घण्टा भर तो अवश्य लगा होगा। बिजली ही प्रयुज हो गई। क्या किया जाता ? वैसे पाई तो आपको पसन्द आई होगी।

रजनी : हाँ सो तो ठीक है। खायो तो मैंने डट कर है।

(कमल बाबू अपना पेट पचका कर देखते हैं)

रजनी : अच्छा अब देर अधिक हो रही है (घड़ी में बारह बजते हैं) वह देखिए बारह बज गए। आप लोगों का भी दूर जाना है।

जलज, राकेश और जयविशाल : (तीनों ही एक साथ) हाँ, हाँ सचमुच बहुत देर हो गई। हम लोगों को दूर जाना है। (तीनों ही उठ कर खड़े होते हैं) अच्छा आज्ञा दीजिए, नमस्ते। (तीनों ही हाथ जोड़ते हैं)

रजनी : (हाथ जोड़ कर) नमस्ते।

(कमल बाबू दोनों हाथ के पंजे नचाते हुए अभिनय करते हैं कि वे लोग किसी प्रकार से जाएँ)

जयविशाल : (बाहर निकल कर) अच्छा कल में १२ बजे आऊँगा अवश्य।

रजनी : (द्वार बन्द करते हुए) अवश्य।

(रजनी अतिथि कक्ष से शयन कक्ष में आती है)

कमल बाबू : (रजनी को दो-तीन बार ऊपर से

नीचे तक देखते हुए, लम्बी साँस छोड़ कर) हैं...।

रजनी : मुरकगद्द को आनन पर विखेरते हुए) क्या देख रहे हैं आप ?

कमल : कुछ नहीं, मैं कवयित्री जी को देख रहा था।

रजनी : मैं कवयित्री नहीं, आपकी रजनी हूँ।

आपके लिए केवल रजनी।

कमल : मेरी रजनी सुरज डूबते ही मेरे घर चली आई थी (आनन पर क्रोध की छाया और शब्दों में रुखापन)

रजनी : (साश्चर्य) मैं आपका मतलब नहीं समझी।

कमल : अब तुम्हें समझने की आवश्यकता भी नहीं।

रजनी : (कुछ घबरा कर) क्यों ?

कमल : तुमको मेरी चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है। बना रहे कवि समाज और कवि सम्मेलन। जाइए आप उन्हीं के पास जाइए जो साहित्य के पीछे अपनी दुम हिलाया करते हैं।

रजनी : यह मेरा तिरस्कार है।

कमल : और यह मेरी उपेक्षा नहीं कि आफिस में आकर बारह बजे तक भूला बैठा हूँ। तुमने मेरा कम तिरस्कार किया है ?

रजनी : किन्तु आज के दिन देर होने का विशेष कारण है। बिजली प्रयुज हो गई थी वहाँ

कमल : वहाँ बिजली प्रयुज होना महत्व नहीं रखता यदि तुम्हारे हृदय के तन्तु मेरी ओर से प्रयुज हो चुके होते।

रजनी : क्या कह रहे हैं आप ?

कमल : ठीक ही तो कह रहा हूँ। मेरी चिन्ता आपको होती तो इतनी देर कर के आप कभी भी न आती। न चाय का प्रबन्ध न भोजन का (व्यंग से) क्यों हो, आपकी तो पार्टियाँ उड़ती हैं।

रजनी : आप गरम रोटियाँ खाने के पक्षपाती न होते तो निश्चय ही मे रोटियाँ या परांठे सेंक कर रख जाती। फिर मुझे क्या मालूम था कि वहाँ इतनी देर हो जाएगी।

कमल : यह तो कोई नई बात नहीं है। आज की ही बात होती तो कोई बात नहीं थी। मैं तो हर दुमरे, तीसरे दिन आपकी देर का शिकार हो जाता हूँ।

रजनी : महीने में एक-दो बार तो कहीं जाती हूँ

और आप.....

कमल : आप क्या ? नित्य ही। काव-गाथा जो घर पर लगी रहती है। सुबह देखो तो और शाम देखो तो। हर समय कहीं 'अक' जी मिलने आए हैं तो कहीं 'डंक' जी। इन्हीं का लंक लगा रहता है।

रजनी : लेकिन मैं क्या कहूँ ? जब कोई द्वार पर आ जाता है तो मनुष्यता के नाते मिलना तो पड़ता ही है फिर वे कितनी बड़ी सद्भावना लेकर आते हैं। उसका भी तो कुछ मूल्य है।

कमल : सबका मूल्य है, किन्तु मेरा नहीं।

रजनी : आज आप कैसी बातें कर रहे हैं। आपका मूल्य ? आपका मूल्य लगाने की सामर्थ्य मुझ में नहीं। आप अमूल्य हैं।

कमल : मैं निर्मूल्य हूँ।

रजनी : नहीं आप अमूल्य हैं।

कमल : मीठी बातें करने से लाभ ?

रजनी : अच्छा यह बताइए—खाना आपने अभी कुछ खाया या नहीं।

कमल : कुछ बना कर रख गई थीं क्या जो पूछ रही हो ? मैंने कुछ नहीं खाया।

रजनी : यही तो बात है। खाली पेट क्रोध अधिक आता है। आप रामदेव को भेज कर बाजार से कुछ मँगवा लेते। खैर मैं अभी खाना तैयार करे देती हूँ। (शयन कक्ष के दाहिने द्वार से घर के अन्दर जाती है)

कमल : (चिल्ला कर) रहने दो। अब १२ बजे रात को खाना मत बनाओ।

रजनी : (अन्दर से ही) नहीं, एक मिनट में, अभी पूरियाँ तले देती हूँ, कौन सी बड़ी बात है।

कमल : नहीं मुझे भूल नहीं है। खाना मत बनाओ।

(अन्दर से कोई उत्तर नहीं)

कमल : (मुद्रा बदल कर धीरे धीरे स्वतः) हे भगवान्, कविता में मुझे कोई आनन्द क्यों नहीं मिलता। होगा तो अवश्य उसमें कुछ रस। इतने आदमी इसके पीछे पागल बने रहते हैं, रजनी का दोष शायद नहीं है। बेवारी अभी रात को खाना बनाने गई है। यह बात ठीक नहीं। रजनी की बहुत-सी

६५ चक, इलाहाबाद

कविताएँ हैं। वह उन सबका आदर करती है। और मैं ? मैं अपनी एक अकेली कविता का भी आदर नहीं कर पाता। कवियों की कल्पना-मूर्ति का साक्षात् रूप। कविता, रजनी, रजनी बाला, कितनी सुन्दर कृति है !! कहते हैं भगवान् जब कविता करने के मूढ़ मैं आया थे तो उन्होंने एक स्त्री को बनाया था। वाह रे ब्रह्मा ! क्या आनन्द भर दिया है इस नारी-काव्य में। कितना आनन्द है इसके सहवास में !! रजनी को मैं दण्ड नहीं दे सकता क्योंकि मैं अपने को दण्ड देने को तैयार नहीं हूँ। मेरी और उसकी लगन स्वाभाविक ही तो है। उसका आनन्द मेरा आनन्द होना चाहिए। उसका सुख मेरा सुख है। उसका विकास मेरा विकास है। उसका ऐश्वर्य मेरा ऐश्वर्य है। उसकी सफलता मेरा योग है। मैं उसका बाधक नहीं बन सकता (जोर से चिल्ला कर) रजनी, रजनी बाला। सुनो, यहाँ आओ। खाना बनाना बन्द करो।

रजनी : (अन्दर से ही) चूल्हा तो जल गया है, बस अब....

कमल : (मुस्कराते आनन से) पेट की आग बुझ चुकी है रजनी।

(रजनी शयन कक्ष में एक कटोरा लिए हुए आती है और कमलबाबू के मुस्कराते आनन को सार्वभौम देखती है)

कमल : (भावनातः होकर) देखो उस धवल चाँद की ओर देखो। कितनी तेजी से रात्रि की चादर को लपेटता हुआ वह अस्त हो रहा है।

रजनी : (विस्मय से अपने सिर पर हाथ रख कर) महान् आश्चर्य, अभी आप क्या थे और अभी ही क्या हो गया आपको (मुस्कराकर) चाँद तो अभी अपनी पूर्ण छटा सहित स्थिर है। लीजिए खीर खाइए।

कमल : (रजनी के हाथ से कटोरा अलग रख उसकी कलाई पकड़ते हैं।)

रजनी : यह क्या, हाथ छोड़िए। अन्दर आग जल रही है।

[परदा गिरता है]

कमल : तो उसे बुझाने की आवश्यकता नहीं। अन्तर की ज्वाला जब तक जलेगी कवयित्री का पति उससे अलग नहीं हो सकता।

—कैलाश कल्पित

राजस्थानी और तेलुगु कहावतें

नोट : तेलुगु कहावतों के उदाहरण "Selection of Telugu Proverbs" by M. W. Carr, Madras 1869 से लिए गए हैं। जैसे भाग्य की अपरिहार्यता के सम्बन्ध में उत्तरी भारतवर्ष में कहावतें मिलती हैं, उसी तरह तेलुगु की कहावतों में भी यही बात देखी जाती है। इसी प्रकार सास के सम्बन्ध में भी तेलुगु कहावतें बड़ी बटु हैं। बहुत-सी कहावतें ऐसी हैं जिनमें रहस्य को गुप्त रखने के लिए कहा गया है। एक कहावत में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस माता ने तुम को जन्म दिया है, कुछ बातें तो उसमें भी छिपाई रखनी चाहिए।

तेलुगु और राजस्थानी कहावतों में भी यत्र-तत्र समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ कहावतें तो ऐसी हैं जो एक दूसरी की अनुवाद-सी जान पड़ती हैं। उदाहरण के लिए दोनों भाषाओं की कुछ कहावतें यहाँ दी जा रही हैं :

(क) शब्द-साम्य

राजस्थानी	तेलुगु (अंग्रेज़ी अनुवाद)
१ लुगाई की अकल गुद्धी में होय	1 A woman's sense is in the back of the head. (P. 14)
२ उतावलो सो बावलो	2 A hasty man is not wise (P. 14)
३ घाघरी को साख नजीक होय	3 Your wife's people are your own relations; your mother's people are distant relations; your father's people are enemies because they are co-heirs.
४ आहारे ब्योहारे लज्जा न कारे	4 In eating and in business you should not be modest. (P. 18)
५ चोर नै कह चोरी कर, साहूकार नै कह जाग	5 Like waking the master and giving the thief a stick. (P. 19) He opens the door for the robber and then awakes the master (P. 84)
६ चेजो कह—मनै चलार देख, ब्या कह मनै मांडर देख।	6 Try building a house, try making a marriage (P. 20)
७ एक हाथ सँ दे अर दूसरे सँ ले	7 Doing with this hand and receiving the reward with that. (P. 23)
८ साच कथां फाल उठै	8 A man starts with anger when the truth is told him (P. 25) §
९ हाथी के गेल अयाँ ही कुत्ता घुसे	9 Like dogs barking at an elephant. (P. 35)
१० एक आँख को के खोलै अर के मीचै	10 One eye is no eye, one son is no son. (P. 36)

§ It is truth that makes a man angry (Latin Proverb) Truth Produces hatred (Latin Proverb).

राजस्थानी

तेलुगु

- ११ पेट सँ किसब करावै
१२ बन्दर नारेल को के करै ?
१३ मीठे कै कीड़ी लागै
१४ रोया बिना मों सी बोबो कोनी दे
१५ मों गैल डीकरी
१६ मूगड मूगडाता ही ओला पळ्या
१७ जीमबली मेरी आलपताल, ठोला सह मेरो लाडलो कपाल
१८ राख पत, रखाय पत
१९ दाई सँ पेट छानो कोनी
२० सारी रामायण सुनली और पूछे सीता कै की भू ?
२१ सीधी आंगली घी कोनी नीकलै
२२ सेर नै सवा सेर मिल जयाय
- 11 Ten million arts are only for getting food. (P. 54)
12 Like a monkey with a co coanut who can't use it but won't give it up. (P. 55)
13 Ants come of themselves where there is sugar-cane. (P. 68)
14 Unless the child cries, even the mother will not give it suck. (P. 72)
15 As is the mother, so is her daughter. (P. 72)
16 When the poor man was about to anoint his head, it began to hail. (P. 81)
17 The tongue talks at the head's cost (P. 88)
18 Give honour, get honour (P. 91)
19 Like covering the body before the midwife. (P. 103)
20 Like asking what relation Sita was to Rama after listening to the whole Ramayana. (P. 110)
21 Without bending the finger, even butter cannot be got (P. 117)
22 For one seer, a seer and a quarter (P. 119)

(ख) भाव-साम्य

दोनो भाषाओं की अनेक कहावतें ऐसी हैं जिनमें शब्दान्तर होते हुए भी भाव-साम्य स्पष्ट है। इस प्रकार की कुछ कहावतों के उदाहरण लीजिए—

राजस्थानी

तेलुगु

- १ विदा विद्दी की में लबाई—चाल विदा में आई
२ गोद में छोरो गांव में दिंडोरो
३ जूठ्या हाथ सँ गंडकड़ो भी कोन्या मारै
४ एक चणू दो दाल
- 1 A quarrel between man and wife only lasts as long as pesura seed stays on a looking glass (P. 17)
2 He looks for his ass and sits on its back
3 He will not even throw his leavings to the crows (P. 29)
4 One blow and two pieces (P. 37)

- ५ टुकड़ा दे दे बछड़ा पाव्या
सींग हुया जद मारण चास्या
- ६ निकमो नाई पाटला मूँडे
- ७ घी दुल्यो तो मूँगां माँही
- ८ कीड़ी पर कटक
- ९ मरे पूत की आँख कचोला-सी
- १० बरै बरस सै बांभ व्याई पूत ल्याई पांगलो
- ११ आग लगया कुआो खोई
- १२ खाल पराई लीकड़ो,
ज्याणू भूम में जाय
- १३ आँगली पकड़तो-पकड़तो पूँच्यो पकड़ लियो
- १४ बाँसी बचे न कुत्ता खाय
- 5 He petted it as a kitten, but when it grew into a big cat it tried to bite him (P. 51)
- 6 The barber without work shaved the cat's head (P. 91)
- 7 (a) Like the ghee falling into the milk pudding (P. 92)
(b) The bread broke and fell into the ghee (P. 110)
- 8 Are you to attack a sparrow with a maddasra ? (P. 93)
- 9 The dead infant is always a fine child (P. 101)
- 10 When after being long childless Lokaya was born to them, Lokaya eye was sunken (P. 111)
- 11 To make swords when the war comes (P. 111)
- 12 To cut into another man's ear is like cutting into a felt hat (P. 32)
- 13 Like taking possession of the whole house when asked to come in for a while (P. 22)
- 14 No food for a fly nor offering for a snake (P. 22)

पिनानी (राजस्थान)

— कन्हैयालाल सहल

मनुष्य के अतिरिक्त यदि कोई प्राणी मनुष्य की बोली बोल सकता है तो वह पक्षी है। पक्षियों को मनुष्य की बोली सिखाने के लिए उन्हें प्रेमपूर्वक अपना बनाना पड़ता है। एक पक्षी मनुष्य की बाणी में उसी समय बातचीत करने लगता है जब कि सिखाने वाला उसका प्रेमपात्र बन जाता है। यही कारण है कि एक पक्षी को मानव-बाणी सिखाने के लिए अन्य पक्षियों से अलग करना पड़ता है। पक्षी पहले एकान्त में ही मानव-बाणी बोलने लगता है। यह सत्य है कि पक्षी वाक्यों को एकमात्र दुहराते हैं। वे कोई नई बात नहीं कह सकते।

—होबर्ट माइरर

ब्राह्मण और उसका नौकर

एक था ब्राह्मण। एक था उसका नौकर। एक दिन जब पंडित जी महाराज ससुगल जाने लगे तो उन्होंने कुछ केले और दूसरा सामान नौकर को ले चलने के लिए दिया और उसमें कहा : देखो, यह केले मत खाना, क्योंकि जैम में मामने से देखता हूँ, वैसे ही पीछे से भी देख सकता हूँ।”

यह कर वे आगे आगे चलने लगे। फिर नौकर को लगी भूख और उसने एक केला तोड़कर अपने मालिक की तरफ बढ़ाया और उसे खा गया। बार-बार उसने ऐसा ही किया और सब केले खत्म कर दिए।

जब मालिक ने पूछा कि केले क्या हुए तो वह बोला, “आपने कहा था कि आप जैसे सामने देखते हैं वैसे ही पीछे भी देख सकते हैं। इसलिए हर बार खाने से पहले केला मैं आपको दिखाता गया था। आपने कुछ कहा नहीं।”

रास्ते भर पंडित जी गुम-सुम रहे। फिर वे दोपहर का खाना बनाने के लिए रुके। साथ में थीं कुछ मछलियाँ। लेकिन पंडित जी ने नौकर को दीं सिर्फ एक और बाकी खुद रख लीं। और जब वे खाने लगे तो नौकर ने बड़ी मासूमियत से पूछा—

“सुनिश्च पंडित जी, यह मछलियाँ अकेली तैरती हैं कि टोलियों में?”

पंडित जी बोले, “क्यों, टोलियों में तैरती हैं।”

“तब तो अच्छा हो मेरी मछली भी आपकी मछलियों के साथ रहे।” यह कहकर उसने अपनी मछली डिट जी की रसोई में फेंक दी और सारा चौका अपवित्र हो गया। इसलिए पंडित जी को भूखा रहना पड़ा और सारा खाना नौकर को मिल गया।

चलते-चलते उन्हें कुछ सीमल वृक्ष मिले। उन्हें देख करने नौकर पूछा, “मालिक इन पेड़ों को क्या कहते हैं?”

पंडित जी ये पड़े लिखे। बोले, “ये हैं सिरमोलु।”

“जी नहीं। जी नहीं यह हैं हिमुलु।” और उसने पाँच घँसों की बाजी भी लगा दी। तभी कुछ ग्वाल-बालों को देखकर उसने पूछा: “यह कौन-से पेड़ हैं?” ज्यों ही लड़कों ने कहा: “हिमुलु” उसने बिना कुछ

पूछे सुने पंडित जी पर पाँच घँसे बरसा दिए।

चलते-चलते उन्हें बकरियों का एक रेवब मिला। तब नौकर ने पूछा, “पंडित जी यह क्या है जो चर रही हैं?”

“इन्हें कहते हैं झग।” पंडित जी ने उत्तर दिया।

नहीं नहीं। यह हैं छुगली।” नौकर चिन्हाया।

ले-देकर नतीजा वही निकला जो पहले हुआ था और पंडित जी पर पाँच घँसे और पड़ गए।

आगे जाने पर उन्हें चानी-चिड़ियों का एक झुण्ड मिला। पंडित जी ने कहा, “इन्हें बोग कहते हैं। लेकिन नौकर ने कहा इन्हें कहते हैं बोगुली।” यहाँ भी वही हुआ और पंडित जी पर पाँच घँसे और पड़ गए।

तब फिर पंडित जी ने अपना मन समझाने को एक आसामी कहावत कही जिसका मतलब था मूर्ख से बहस करना बुद्धा है।

इस तरह चलते चलते वे दोनों पंडित जी की सुसराल के निकट आ पहुँचे। पंडित जी को लगी थी जोर की भूख सो उन्होंने नौकर को आगे आगे भेज कर खाना तैयार कराने को कहला दिया। नौकर ने जाकर पंडित जी की साम से कह कर एक बत्तम्र पकवाई और उसमें डलवा दी बहुत सी केले की राख—राख, जिसे कठारी लोग नमक की जगह इस्तेमाल करते हैं—यह जानते हुए भी कि पंडित जी को उसका तीखा स्वाद बुरा लगता है। इस तरह बहुत-सा चार डाल कर बत्तम्र बनी।

और जब पंडित जी आए तो खाना उनके सामने लाया गया। पर वे थे ऐसे भूखे कि जो मिला खा गए, उसका स्वाद चाहे उन्हें अच्छा लगा हो या न लगा हो।

यों नौकर ने पंडित जी को तरह तरह से शर्मन्दा किया। अनएव पंडित जी ने अपने भाई के नाम एक लम्बी चिट्ठी लिखी और वह नौकर के हाथों रवाना कर दी। लेकिन वह नौकर कुछ ही दूर गया होगा कि उसे एक आदमी मिला जो पढ़ लिख सकता था।

नौकर ने उससे पूछा चिट्ठी में क्या लिखा है और उस आदमी ने चिट्ठी पढ़ कर उसे सुना दी। चिट्ठी का आशय था कि पंडित जी का भाई नौकर को

मार डाले। यह सुनते ही नौकर ने वह चिट्ठी तो फाड़ डाली और उस आदमी में दूसरी चिट्ठी लिखाई :

“प्रिय भाई, यह चिट्ठी मिलते ही मेरे नौकर से मेरी भतीजी का विवाह कर देना। मैं स्वयं शादी में न आ सकूँगा।”

यह पत्र लेकर नौकर अपने मालिक के भाई के पास पहुँचा। पत्र पढ़ कर पंडित जी के भाई को बड़ी परेशानी हुई लेकिन उनकी आज्ञा न मानने का साहस न था। अतएव, उन्होंने नौकर से अपनी बेटी का विवाह कर दिया, गोष्ठी बड़ी उत्सुकन से।

पंडित जी ने लौट कर जब नौकर के खान्ने का समाचार पूछा तो उन्हें अमलियत मालूम हुई और उन्होंने उसे मार डालने की व्यवस्था की, लेकिन उनकी भतीजी को इसका पता चल गया और उसने अपने पति को बता दिया।

अतएव वह एक बछड़े ले आया। उसके हाथ पैर बाँध कर उसने अपनी पत्नी के पास लिटा दिया।

रात को आए पंडित जी और यह सोच कर कि उनकी भतीजी के साथ उसका पति सो रहा है, उन्होंने बछड़े को मार डाला। और मरे जब उन्हें इस भूल का पता चला और यह खयाल आया कि उन्हें गो-हत्या लग गई है तो उन्होंने अपनी भतीजी के पति से बछड़े को जल्दी से दफनाने के लिए कहा।

नौकर मरे बछड़े को घसीटता हुए बगीचे में ले जाकर गाड़ आया—ऐसे ढंग से कि उसकी पूँछ जमीन से बाहर निकली रही।

इसी बीच पंडित जी ने गोहत्या के प्रायश्चित्त के लिए गाव के लोगों को न्यौते दे दिए—उन्हें बिना यह बताए कि दावत क्यों हो रही है। जब पंगत बैठ गई तो नौकर दौबता हुआ बगीचे में पहुँचा और बछड़े की पूँछ पकड़ कर चिल्लाया :

“पंडित जी ने गड़या नहीं मारी। नहीं मारी। इसके लिए वे दावत नहीं दे रहे।” इस तरह पंगत उठ गई और पंडित जी गोहत्या के पाप से मुक्त न हो सके।

स्वदेशी हाउस,
कानपुर

—तिरुवाक

हे वेमा, हमें भूल जाना चाहिए—
पापपूर्ण विषयों को,
आपस की कलह को,
और दूसरे की भुटियों को,
परन्तु कभी नहीं भूलना चाहिए किसी भी अवस्था में,
दूसरों के उपकार को

हे वेमा, जूते में परधर का टुकड़ा,
कान में प्रविष्ट गो-मूत्रिका,
आँख की किर किरि,
पैर का कौंटा,
और घर का झगड़ा
इनका कष्ट वर्णन नहीं किया जा सकता,
इनका कष्ट अनुभोगी ही जानता है

तेलुगु पद्यों से

—वेममा



कला-प्रेम

सांस्कृतिक स्वरूप की नींव : भारतीय मूर्तियाँ

संस्कृति की आत्मा को हृदयंगम करने के लिए कला-मन्त्रधी जानकारी जरूरी है। धार्मिक-चिन्तन और सांस्कृतिक उन्नयन की भाँकी हमें विभिन्न भारतीय कलाओं में दृष्टिगोचर होती है। जीवन और कला का जैसा मामंत्रस्य इस देश में हुआ, वैसा अन्यत्र कदाचित् कम ही हुआ है।

सिन्धु नदी की घाटी में आज से प्रायः ५००० वर्ष पूर्व भारतीय-कला का जीवन्त रूप दीखा था। उक्त अमाधारण प्रगति का प्रतीक मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आज भी विद्यमान हैं। प्रायः व्यावहारिक वस्तुओं से उस युग की उत्कृष्ट-कला का आभास मिलता है। सुराही और कलशो आदि पर जानवरों के जो चित्र निमित्त हैं, उनसे जाहिर है कि उस युग के कलाकारों को रूप, आकृति और रस-अभिव्यञ्जना का सूक्ष्म बोध था। अनेक रेखाचित्रों और चुने-मिट्टी की प्रतिमाओं से लगता है, जैसे उनका समस्त-जीवन कला-दर्शन के अत्यन्त निकट रहा हो। धातु-पत्थर की मूर्तियों को ढालने बनाने में उन लोगों ने अद्भुत दक्षता प्राप्त कर ली थी। मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिली कॉमे की मूर्ति (नर्तकी) सजीवता से पूर्णतया अभिभूत है। हड़प्पा का नरमूर्ति खण्ड शारीरिक बनावट की दृष्टि से पत्थर की कला का विस्मयकारी नमूना है।

निस्मन्देह यह कम गौरव की बात नहीं है कि भारत में पहले से ही अनोखी मूर्तियाँ पायी जाती रहीं। मुहरों पर उत्कीर्णित बनेले जानवरों की आकृतियाँ वस्तुतः अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। मोहनजोदड़ो की प्रसिद्ध सांड-मूर्ति इतिहास के पन्नों पर मदा अमर रहेगी। मांड का प्रदत्त 'पुंगव' नाम भी सर्वथा सार्थक है। दूसरी ओर ई. पू. चौथी शताब्दी के मध्य इतिहास की प्रगति ने कलाकारों के कर्तव्यों और विचारों में काफी अन्तर उत्पन्न कर दिया। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में पत्थर की मूर्तिकला नए सिरे से चमकी। शैलीगत विशेषता, अभिराम आकृति निर्माण और

भावो का व्यक्तीकरण अमूठा रहा है। संस्कृति तथा कला के इतिहास में मौर्यकाल शक्ति, गति और गुरुता में अपना सानी नहीं रखता। सारनाथ स्थित 'सिंह-मस्तक' स्वतन्त्र-भारत का राष्ट्र-चिन्ह है। कलाकार की प्रज्ञा ने पत्थर तक में प्राण फूँक दिए हैं। मस्तक के चार चिन्ह चार दिशाओं की ओर मुंह किए पीठ-से-पीठ सटाए खड़े हैं। चक्रों के अन्तर से नीचे चार पशु दौड़ते हुए दिखाए गए हैं। आदि से ही सिंह शक्ति के प्रतीक माने गए हैं। दौड़ते पशु गति के और चक्र मानव-भाग्य के चोतक हैं। आधार, अधोमुखी पंखुवियों वाला कमल का घंटा है। यह अशोक-मस्तक मूर्तिकला में अपना विशिष्ट-स्थान रखता है। एक ऐसी ही अनुपम स्तम्भ बिहार-प्रान्त के 'राम-पुरवा' में भी है, जो अपनी स्वाभाविकता के लिए प्रसिद्ध है। वस्तुतः मौर्यकालीन मूर्तिकला उच्च-स्तर की थी। सभी कलाएँ शासकों की संरक्षता में फली-फूली थीं। जनकला का उद्भव विकास भी उस समय तक हो चुका था। देवी-देवताओं में यक्ष और यक्षिणियों को पूजनीय समझा जाता था। यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ असीम-शक्ति की प्रतीक मानी जाती थीं। मूर्ति-कला में विराग का उद्रेक प्रायः नहीं था। विनय, शक्ति और सौन्दर्य की आराधना मुख्य थी।

ई० पू० १० शताब्दी के मध्य भारहुत और सौची-स्तूप के तोरणों पर जिन विविध आकृतियों का अंकन हुआ है, वह शुंगकालीन-संस्कृति का मूर्त उदाहरण है। जितनी मुकाएँ बनीं, सब में प्रायः कला का जीवित-रूप प्रदर्शित है। छोटे से लेकर प्रतिष्ठित सभी प्रकार के जीवधारियों को प्रकीर्ण किया जाता था। अमरावती और नागार्जुन कोडा की संगमरमरी-परिकाएँ उस समय की उत्कृष्ट-कला को और भी समृद्धिशाली घोषित करती हैं। आकृतियों का नैसर्गिक उभार दो-तन एक-मन वाली कढ़ावत चरितार्थ करता है। वेदिका-स्तम्भों पर उभरी पक्ष-मूर्तियाँ पहली-शताब्दी ईसवी के आस-पास आविर्भूत हुईं। शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त मूर्तियाँ

पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थीं। प्रकृति के साहचर्य से उक्त सजीव-मूर्तियों जीवन के अनेक स्वप्नों को मलय प्रमाणित करने में समर्थ रही हैं। ये मॉडल अनेक किस्म की प्रतिमाओं पर उत्कीर्णित हैं। मथुरा-कला का यथार्थ चमत्कार गुप्तकालीन वह मूर्ति है, जो लक्ष्मण-कला में अपना प्रतीक आप है। भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग में गुप्तकाल की कला; पटुता और सूक्ष्मता के लिए बहु-विश्रुत रही है।

प्रतिमाओं में आकार-चेष्टा के स्थान पर भावांकन को प्राधान्य दिया जाने लगा। उस समय की मूर्तिकला विश्व-मूर्तिकला से लोहा ले चुकी थी। मध्य एशिया, चीन, जावा और कम्बोडिया आदि स्थानों में उक्त मूर्ति-निर्माण का यथोचित सम्मान हुआ था। प्रम्बनम् और बोरोबोदुर के मंदिरों की मूर्तियाँ आज भी कला की अपुपम-वदाहण मानी जाती हैं। कला के उत्कृष्टतम नमूने मथुरा, सारनाथ और अन्य स्थानों में प्राप्त वे बुद्ध-मूर्तियाँ हैं, जिनका निर्माण बौद्धयुग के आस-पास हुआ था।

मध्य युग एक तरह से जातीय-तन्द्रा के जागरण का युग है। कुमारिल और शंकराचार्य जैसे व्याख्याताओं ने एक बार पुनः भारतीय समाज को परिष्कृत और गतिमान बनाने के लिए अटूट-प्रयत्न किए। संस्कृति में नयी-चेतना और शक्ति-उत्थान के साथ-ही साथ कला में भी अद्भुत उभार-निखार आने लगा। आठवीं से १२ वीं शताब्दी तक का मध्य युग मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण में अत्यन्त प्रभावकारी रहा। मंदिरों की बाहरी-दीवारों पर जो अमूर्ति-आकृतियाँ खिंचीं, उनके अभिराम सौन्दर्य ने दर्शकों को सहजतः मुग्ध कर लिया। प्रेमपाती लिखती हुई महिलाएँ, शिशुओं से क्रीडा करती हुई माताएँ एवं दर्पण में मुँह निहारती हुई नारियाँ; सभी, जीवित सौन्दर्य के उपकरण स्वीकार किए गए हैं अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में अनुपम भित्ति-चित्र तथा खजुराहो और कोणार्क की कमनीय मूर्तिकला विशद और दुर्लभ-सी है।

काले पथरों से निर्मित दक्षिण भारत की मूर्तियाँ भी नयी-शिल्प और हस्तकौशल से अभिप्रेत हैं। कलाकारों ने पत्थर को भी इतना उज्योतित कर दिया है कि वह चमक धातुकान्ति को भी मात देने में समर्थ है। उन्होंने धातु ढालने की कला भी शुरू में सीख ली थी। सिंधु-उत्थान के दर्मियान ही उक्त ढलाई-कार्य पनपने

लगा था। मोहन जोदड़ों की कॉसे की मूर्ति (नर्तकी) उस युग की श्रेष्ठ प्रतिमा मानी जाती है। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में धातु की अलौकिक प्रतिमाएँ ढाली गयी थीं। गुप्तकाल में तो अन्य कलाओं की भाँत धातु-निर्मित मूर्तियों का भी बोल वाला था।

बरमिछिम-स्थित आदमकद भगवान बुद्ध की मूर्ति दर्शकवृन्द को थोड़ी देर के लिए हैरत में डाल देती है। मीरपुर खास के स्तूप में मिली ब्रह्मा की मूर्ति भी असामान्य है। धातु-प्रतिमा की संख्या पाक्षि-युग में सबसे अधिक बढ़ गयी थी। अन्वेषकों का मत है कि उस युग में पत्थर से भी ज़्यादा धातु-सामग्री प्रयुक्त होती थी। धातु-कला के कुछ सुन्दरतम नमूने चोल-वंश के हैं। स्थपतियों ने मोम के पुतलों का प्रयोग भी इस काल किया था। ये धातु की मूर्तियों के आधार स्वरूप में लाए जाते थे। अनन्तर मूर्ति ढालते वक्त वे लिए जाते थे। युग की सर्वोत्तम मूर्ति, शिव त्रिशूल मूर्ति समझी जाती है। डॉ. कुमार स्वामी ने कहा है :

“भारतीय कला में नटराज की कल्पना महान् कृति है। इस काल में अनेक देवी-देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ बनीं। राम, कृष्ण, विष्णु, पार्वती आदि की अनेक प्रतिमाएँ कुशल संगतगणों के हाथों से प्रादुर्भूत हुईं। शिव, पार्वती और उनके बेटे स्कन्द का मूर्ति-परिवार धातु की अनोखी कृति है। इसमें शिव का योग और पार्वती का आकर्षण—सौन्दर्य अद्भुत रूप में फुट पड़ा है।”

निदानतः यह सत्य है कि भारत की सांस्कृतिक उन्नत कला के विभिन्न स्वरूपों द्वारा समय समय पर परिलक्षित होती रही।

४६७, अहिंसापुर,
इलाहाबाद—३

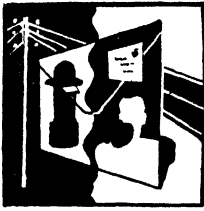
—मोहन जी मेहरोत्रा

(२)

चीनी और भारतीय भित्ति-चित्र

चीनी कला-क्षेत्र में युनकांग की बौद्ध मूर्तियों और तुनहुआंग के भित्ति-चित्रों पर भारत की गान्धार-कला का बहुत कुछ प्रभाव है। इसी तरह भारत की अजन्ता की गुफाओं की मूर्तियों और छः राजवंशों से लेकर तोंग राजवंश तक के चीनी भित्ति-चित्रों में बहुत कुछ समानता है।

—चाऊ यंग



चिन्की-पत्नी

“चम्पा पुष्प की उत्पत्ति”

(१)

फूलों में चम्पा के फूल को सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है। संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है : “पुष्पेषु चम्पा” अर्थात् फूलों में चम्पा सर्वोत्तम है। इस फूल में सौन्दर्य और सुगन्ध का मेल होता है। चम्पा पुष्प की गन्ध बहुत ही मधुर होती है। रात्रि की नीरवता में इसकी सुशब्द दूर तक फैलकर मनो मुग्धकारी बन जाता है। बामण पुराण में चम्पा पुष्प के विषय में इस प्रकार का उल्लेख आता है कि, कामदेव ने भगवान् शंकर के ऊपर बाण फेंका। भगवान् ने अपना तीमरा नेत्र खोलकर मदन को भस्म कर डाला। उसका मृगमय धनुष टुकड़े-टुकड़े हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। जहाँ-जहाँ उस धनुष के भिन्न-भिन्न भाग गिरे, वहाँ-वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प पैदा हो गए।

कामदेव के धनुष की सूँट रुक्म-मणि की बनी हुई थी। अतः वह टूट कर जहाँ पृथ्वी पर गिरी, वहाँ चम्पा के पुष्प उत्पन्न हो गए।

बंगला के लोकवाणी के अनुसार चम्पा के विषय में निम्न लिखित कथा अत्यन्त प्रचलित है।

कहते हैं, एक राजा राज्य करता था। उसके चार रानियाँ थी। उनमें म एक रानी प्रमुख थी। वह पटरानी थी। जब पटरानी गर्भवती होती तो अन्य तीनों रानियों को द्वेष होता और प्रसवक समय जब प्रसवपीड़ा से पटरानी मूर्च्छित हो जाती तो उसमें नवजात शिशु को रानियाँ पृथ्वी में गड़वा देतीं और उससे यह कहतीं, तुमने शिशु की अपेक्षा ईंट-पत्थर जने हैं।

इस प्रकार पटरानी ने सात राजकुमार और एक राजकुमारी को जन्म दिया और वे सभी पैदा होते ही अन्य रानियों द्वारा राजवाटिका में गड़वा दिए गए।

राजा की दृष्टि में पटरानी का सम्मान कम हो गया। वह बिचारी दासी बना दी गई। सातों राजकुमार के स्थान पर ‘सात चम्पा और राजकुमारी के स्थान पर

‘पारुल’ नाम का पौधा उग आया।

जब राजा का माली ये तीनों रानियाँ फूल तोड़ने के लिए आतीं तो वृक्ष धीरे धीरे ऊपर ऊठ जाते और वे फूल तोड़ने में र्वाँवत रह जातीं। जब उन की अपनी माता जो पहिले पटरानी थी, फूल तोड़ने के लिए आती, तो वे पुष्प झुक कर उसकी गोद में स्वयं गिर पड़ते।

इस लोक कथा से सम्बन्धित निम्न लिखित बंगला लोक गीत अत्यन्त मार्मिक है।

“सात भाई चम्पा जागो रे
केनो बोन पारुल डाको रे
राजार माली ऐसे छे
फूल देखे कि देखे ना ?
न दिबो न दिबो फूल
ठठिबो शतेक दू
आगे आशुक राजार बड़ो रानी
तबे दिबो फूल”

× × ×

“मात भाई चम्पा, जागो रे
पारुल बहिन, क्यों बुला रही हो,
राजा का माली आ रहा है
फूल दोगे कि नहीं दोगे
नहीं दोगे, फूल नहीं दोगें
सौधुना ऊपर उठ जाएँगे
जब राजा की बड़ी रानी आवेगी
तभी फूल दोगें।”

चम्पा के विषय में एक और लोक कथा भी प्रचलित है। जंगल में दो भाई रहते थे। उनके एक बहिन थी। दोनों भाई अत्यन्त निर्धन थे। वे लकड़ी काट कर और उसे बाजार में बेच कर अपना पेट पाकते थे। एक दिन दोनों भाई बन में गये थे। बहिन अकेली घर में भोजन बना रही थी। तरकारी में डालने

के लिए उसने टमाटर काटा और टमाटर काटते समय उसकी अंगुली भी कट गई। कटी अंगुली से चार, पाँच बूँद रक्त भी तरकारी में गिर पड़ी।

दोनों भाई बन से लकड़ी काटकर लौटे। बहन ने उन्हें भोजन परोसा। आज की तरकारी अन्य दिनों की अपेक्षा अति स्वादिष्ट लगी।

बड़े भाई ने कहा “आज कौन सा मसाला डाला है, जो सब्जी इतनी स्वादिष्ट हो गई है।” बहन ने उत्तर दिया—“अंगुली के कटने से, सब्जी में मेरे खून गिर पड़ा था।”

बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा, “बहन का रक्त अति स्वादिष्ट है। इसे मार कर क्यों न खा लिया जाए?”

छोटा भाई इस पर सहमत न हुआ। किन्तु एक दिन बड़ा भाई अपनी बहन को जंगल में ले गया और वहाँ कुल्हाड़ी से उसे मार डाला। जहाँ वह मरी थी, उसी स्थान पर एक वृक्ष उत्पन्न हुआ और उसमें से सुगन्धित पुष्प निकला, जिसे चम्पा कहते हैं।

ई. ५२. ऐ; रेलवे कालोनी,

कंजरी सराय के पास,

—मनोहरलाल वर्मा

मुरादाबाद।

‘अजन्ता’ के सम्बन्ध में

(२)

आप के लोकप्रिय मासिक पत्र “अजन्ता” को देखकर कभी कभी मुझे अम सा प्रतीत होता है। लगता है कि कहीं यह सब कुछ एक सपना तो नहीं है। क्योंकि एक अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश से इतनी शुद्ध साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन एक आश्चर्य की वस्तु है। आप का संकलन हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट नवलेखन का संकलन है और आपके प्रयास की मैं व्यक्तिगत रूप से तथा मेरी संस्था सफलता चाहती है।

८ ई, पुरुषोत्तम नगर

हिम्मत गंज, इलाहाबाद —सुरेशचन्द्रसिंह ‘नील’

(३)

“अजन्ता” का यह अंक बहुत ही अच्छा लगा। इसमें गद्य और कविताएँ दोनों सुन्दर हैं। चित्र नहीं दिया गया और जो प्रायः हर अंक में होता था। “अजन्ता” के दीर्घजीवन की एकान्त कामना किया करता हूँ।

अभी कुछ दिनों पूर्व “अजन्ता” के अवसान के समाचार जब एक मित्र से सुना तो दुःख से भर गया था। आपके और हिन्दी प्रचार सभा के प्रयत्नों से वह अस्त न हो सका। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उस अहिन्दी भाषी प्रदेश से हिन्दी की दो उत्तमतर पत्रिकाएँ निकल रही हैं।

मौलाना आजाद केन्द्रीय पुस्तकालय,
भोपाल

—केशु

(४)

भाँसी रेलवे स्टेशन से लेकर शहर तक “अजन्ता” कहीं उपलब्ध नहीं। मुझे सफ़र बहुत करना पड़ता है। जहाँ दर्शन हो जाता है, वहीं खरीद लेता हूँ। सितम्बर—अक्टूबर का सम्मिश्रित अंक देखने को मिला। समस्त सामग्री विशिष्ट स्तर की है।

१२३, लक्ष्मण गंज,

भाँसी

—विनोद ‘प्रवासी’

(५)

नवम्बर की ‘अजन्ता’ देखी। अंक पण्डित आया। कृपया प्रूफ की गलतियों पर अधिक ध्यान दें। काव्य-ताओं का चयन मुझे रुचा नहीं, प्रायः ही नहीं रुचता। निबन्ध तथा साहित्य, कला विषयक सामग्रियाँ सुन्दर हैं। श्री मुरली मनोहर का निबन्ध और श्री खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर की कविताएँ विशेष आकर्षक हैं। लेकिन ‘खगेन्द्र’ को ‘खजेन्द्र’ छाप देना तो क्षम्य नहीं है।

आशा है, आप मेरे आप्रहों पर ध्यान देंगे।

आल इण्डिया रेडियो,

पटना

—भवेशानाय पाठक

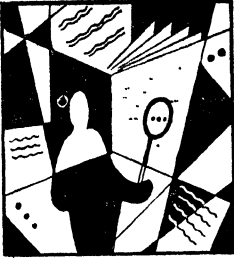
(६)

नवम्बर मास की ‘अजन्ता’ देखी। आरम्भ से अन्त तक पढ़ी। “यौवन और विद्रोह का कविः बायरन”—इस अंक में मुझे सर्वश्रेष्ठ रचना प्रतीत हुई।

आन्ध्र देश में यह पत्र हिन्दी और भारतीय भाषाओं में पारस्परिक सौहार्द और अच्छे सम्बन्धों को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है—यह देख कर प्रसन्नता होती है। ‘अजन्ता’ अपने इस प्रयत्न में सफल हो।

हैदराबाद

—एक तेलुगु भाषा भाषी



वीर-द्वार..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम भेजी जानी चाहिए।]

टूटा हुआ आदमी

लेखक : सिद्धनाथ कुमार

प्रकाशक : पुस्तक मन्दिर, बक्सर,

दिल्ली पुस्तक सदन,

दिल्ली : पटन।

मूल्य : ३.००

प्रस्तुत में लेखक की ४२ 'कविताओं' का संग्रह किया गया है। ये 'कविताएँ' इतनी सरल और भावपूर्ण हैं कि इनमें न केवल लेखक के हृदय की धड़कन सुनाई देती है अपितु उनको पढ़ते हुए लेखक के व्यक्तित्व की भी कुछ अनुभूति होती है। उसके व्यक्तित्व में एक प्रकार की स्पष्टता और सरलता है, जिससे उसकी 'कविताओं' में एक विशेषता आ गई है। विचारों और भावनाओं में जब लेखक के व्यक्तित्व की अनुभूति होने लगती है तो उनमें एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न हो जाता है और यही आकर्षण 'रस' के रूप में अनुभव होता है। इसी कारण इन 'कविताओं' में एक प्रकार का आकर्षण, और सरसता है। कविता को किसी 'वाद-विशेष' की दृष्टि से देखना, उसके साथ न्याय करना नहीं है। कविता एक अनुभूति है, वाद नहीं और जब यह अनुभूति होती है तब उसके साथ जीवन की एकात्मता उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप से स्थापित हो जाती है जैसी कि एक बूंद की समुद्र के साथ।

प्रस्तुत पुस्तक की 'टूटा हुआ आदमी' अन्तिम कविता है जिसके आधार पर इस पुस्तक का नामकरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी इन संश्लिष्ट रचनाओं में अपनी यह रचना लेखक को सबसे अधिक

पसन्द है और इसी कारण उसने अपनी पुस्तक का यह नाम रख कर इस कविता की ओर पाठकों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस 'कविता' को पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि 'टूटा हुआ आदमी' ही नहीं चलता अपितु 'टूटी हुई' कविता भी चलती है। प्रस्तुत पुस्तक में संश्लिष्ट और अन्य कई कविताओं के सम्बन्ध में भी यह अनुभव होता है कि यद्यपि वे 'टूटी हुई' हैं परन्तु क्योंकि उनके अन्दर आत्मा या अनुभूति का बल है, इस कारण वे भी चलती हैं और चलती रहेंगी। उनकी "क्या यही वसन्त है?" कविता की यह पंक्ति श्रीमती सरोजिनी देवी की 'वसन्त' एक अंग्रेजी कविता में इसी प्रकार प्राप्त होती है और 'आस्था' कविता की ये पंक्तियाँ "नहीं नहीं; मैं अभी मरूँगा नहीं" कविता की पंक्तियों में भी श्रीमती सरोजिनी देवी की एक अन्य कविता की जिसमें कि उन्होंने मृत्यु से कहा है कि "मृत्यु, ठहरो; मैं अभी मरना नहीं चाहती" की हलकी सी प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

प्रस्तुत पुस्तक में कई कविताएँ इस प्रकार की हैं जिन्हें पढ़कर ऐसा अनुभव होता है कि वह 'सूक्तियों' तो हैं परन्तु उनकी अभिव्यक्ति को यदि लेखक चाहता तो उनको और भी अधिक सशक्त और समर्थ बना सकता था :

"भूल होती है, तुम्हारी झुकाई बढ़ती

किन्तु मेरी भूल का होता न तनिक सुधार।

मैं गया होता सुधर अब तक कभी,

मिल सका होता तुम्हारा स्पर्श, मधुमय प्यार"

उपर्युक्त पंक्तियों की भावना सुन्दर है परन्तु इन्हें पढ़ने से कुछ ऐसा अनुभव होता है जैसे कि हम किसी कविता

का अनुवाद-मा पढ़ रहे हों यद्यपि हम यह जानते हैं कि यह अनुवाद नहीं है।

निम्न पंक्तियों में 'आँसुओं' में 'मुस्कान' का कैसा संवीक्षण है :

‘विदा के क्षण में
तुम्हारे छलछलाये नयन
मेने देख कर समझा—
आँसुओं में भी मधुर मुस्कान होती है।’

निम्न पंक्तियों में लेखक ने Veto (निषेधाधिकार) का प्रयोग किया है :

‘क्या कहा ?
हार हो गई मेरी
सत्य है
किन्तु... मेरे विश्वास का
निषेधाधिकार अभी बाकी है’

कवि अपनी कविताओं के द्वारा ‘स्वप्नों का निर्माण’ करना चाहता है—आशा है कि वह हिन्दी-कविता में कुछ इस प्रकार के स्वप्नों का निर्माण करेगा :

‘जो चरणों को गति दें
अन्तर को नई शक्ति
विश्वास नया
जिनकी रेखाओं में
हो जाग रहा जीवन’

शालिब और उनकी शायरी

सम्पादक : प्रकाश परिडल

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज,

कश्मीरी गेट,

दिल्ली

मूल्य : १.५०

मिर्जा शालिब जिन्हें कि प्रस्तुत पुस्तक के संपादक ने उर्दू का “अदबी वली” (साहित्यिक आधि) कहा है— उर्दू के एक मात्र ऐसे महाकवि हैं जिनके “व्यक्तित्व और साहित्य पर सबसे अधिक लेख और समालोचनाएँ लिखी गई हैं। उनके दीवान के तो इतने संस्करण निकल चुके हैं कि उनकी गणना संभव नहीं।” हिन्दी में इससे पूर्व मिर्जा शालिब की कविता के कई संकलन

निकल चुके हैं परन्तु ‘आज के उर्दू शायर’ की सीरीज में उनके कलाम का जो यह संकलन किया गया है उसकी अपनी ही विशेषता है।

मिर्जा शालिब का इस समय जो छोटो-मा दीवान मिलता है उसका कारण यह है कि उन्होंने अपने “२००० शेरों को बड़ी निर्यतता से काट फेंका था।” इसी से मिर्जा शालिब की असाधारण आलोचक शक्ति का पता चलता है। कहते हैं कि मिर्जा शालिब प्रायः कवियों को कविता न लिखने की सलाह दिया करते थे क्योंकि वे कविता लिखने को एक अत्यधिक कठिन कार्य समझते थे। उन्होंने उर्दू के प्रसिद्ध महाकवि हाली से कहा था : “मैं प्रायः कवियों को यह मशविरा दिय करता हूँ कि वे कविता न लिखें परन्तु तुम्हें यह सलाह देता हूँ कि तुम कविता अवश्य लिखो क्योंकि यदि तुम कविता नहीं लिखोगे तो अपने साथ अन्याय करोगे।”

मिर्जा शालिब की निम्न पंक्तियों से ज्ञात होता है कि वे ‘कविता’ को और ‘लहू रोने’ को एक जैसा समझते थे :

“ऐसा आसों नहीं लहू रोना
दिल में ताकत जिगर में ढाल कहाँ”

शालिब के कलाम में दर्शन और अनुभूति इतनी अधिक है और पहले वह अपने विचारों को कुछ ऐसी भाषा में लिखा करते थे कि उसे समझना आसान नहीं था परन्तु बाद में उन्होंने इस प्रकार की कविताएँ इतनी आसान भाषा में लिखीं कि जिनकी यदि व्याख्या की जाए तो सिवाय उनके उर्दू शब्दों के उन्हें किन्ही और शब्दों में कहा ही नहीं जा सकता। जो कविता पूर्ण होती है उसकी पहचान यह होती है कि वह इस प्रकार के पूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त होती है कि उनका अर्थ या उनकी व्याख्या एक मात्र उर्दू शब्दों के द्वारा की जा सकती है। “सूनु” के सम्बन्ध में उनकी ये उक्तियाँ कितनी गहरी और मार्मिक हैं :

“मुझे क्या बुरा था मरना, अगर एक बार होता”

इसी प्रकार :

“न हो मरना तो जीने का मज़ा क्या”

विरोध से शब्दों में सौन्दर्य उत्पन्न करना जितना सुगम है—अर्थों में उसके द्वारा गम्भीरता उत्पन्न करना

उतना सुगम नहीं है। विरोध में गालिब कैसे महान् कवि ही रंगों में विरोध और अर्थों में गम्भीरता उत्पन्न करते हैं :

“तेरे वारे पै जिए हम तो ये जान—भूठ जाना,
कि खुशी पे मर न जाते अगर एतबार होता
तेरी नाजुकी से जाना कि बैधा था अहद बोदा,
कभी तू न तोड़ सकता अगर उस्तवार होता”

.....

“हम वहाँ हैं जहाँ से हम को भी,
कुछ हमारी खबर नहीं आती
मरते हैं आरजू में मरने की
मौत आती है पर नहीं आती”

गालिब की पिछली दो पंक्तियाँ संस्कृत के महा-
ऋषि भवभूति के इम श्लोक का स्मरण दिलाती हैं :

“दलति हृदयं गाढोद्देगाद् द्विधा न तु भिदयते,
वहात विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्
प्रदहति तन्मन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधर्ममच्छेदी न कुन्तति जीवितम्”

—दिल फटता है परन्तु दो टुकड़े नहीं होता;
बेहोशी आती है परन्तु चेतना नहीं जाती; आग जलाती
है परन्तु भस्म नहीं कर देती और भाग्य मर्मों पर प्रहार
करता है परन्तु जीवन को नहीं काट देता।”

मिर्जा गालिब ने उर्दू को एक महान् भाषा बना
दिया और उसके साहित्य को महान् साहित्य। प्रस्तुत
संकलन को पढ़ने से मिर्जा गालिब के जीवन और उनके
कलाम की महानता का आभास प्राप्त होता है।

भारत के पक्षी

लेखक : राजेश्वर प्रसाद नारायण हिंस

प्रकाशक : पब्लिकेशन्स इंडीजन,

सूचना और प्रसारण मंत्रालय,

दिल्ली

मूल्य : १२.५०

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में श्रीयुत जवाहरलाल
नेहरू लिखते हैं : “मुझे इस बात पर ताज़ुब और
कुछ अफसोस होता रहा है कि भारत में विज्ञियों,
जानवरों, और पेड़ों के बारे में और चीजों की बनिस्वत
किस क्रूर कम दिलचस्पी ली जाती है। पश्चिमी देशों

में इन विषयों पर वैज्ञानिक और लोकप्रिय पुस्तकें बहुत
मिलती हैं।” यह प्रसन्नता की बात है कि इस प्रकार
के विषयों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट करने
और उनमें रुचि उत्पन्न करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक
लिखी गई है। कालिदास ने अपने ‘रघुवंश’ के प्रथम
सर्ग में लिखा है कि जब दिल्ली राजधानी में आश्रम
की ओर रथ में गए तो रास्ते में वे ग्रामीणों से
मिलने पर रास्ते पर लगे हुए अंगली वृक्षों के नाम
पूछते थे : “नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्ग-
शाखिनाम्।” रास्ते में उन्होंने कई प्रकार के पक्षियों
को भी देखा होगा, उनके नाम भी शायद उन्होंने
उनसे पूछे हों। सर वाल्टर स्कॉट के सम्बन्ध में यह
कहा जाता है कि वे जिस फूल को देखते थे उसका
नाम पूछ कर अपनी डायरी में लिख लेते थे।
हमारे देश में जैसे फूल अनेक प्रकार के हैं वैसे
ही पक्षी भी अनेक किस्मों के हैं। एक बार हमें चकराता
से ६ मील दूर देवबन नामक स्थान में रहना पड़ा।
वहाँ उन दिनों पहाड़ों पर एक छोटा-सा अंगली फूल
इतनी प्रचुरता से चपे-चपे में खिला हुआ था कि चारों
ओर वही छोटा-सा फूल दृष्टिगोचर होता था। हमने
जब उस फूल का नाम पूछा तो हमें कोई बता न सका।
यह सत्य है कि फूलों, वृक्षों और पक्षियों आदि के प्रति
अभी तक हमारे देश के लोगों में विशेष दिलचस्पी नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय तो वैज्ञानिक है परन्तु
कई पक्षियों के साथ मानव का सम्बन्ध हो जाने
के कारण, उनके सम्बन्ध में कुछ साहित्यिक परम्पराएँ
और Poetic conventions भी प्रचलित हो गए हैं, इस
लिए पक्षियों के साहित्य में उन्हें भी सम्मिलित कर लिया
गया है। यह पुस्तक किम प्रकार लिखी गई, इसके सम्बन्ध
में लेखक अपने “निवेदन” में लिखते हैं। “अधिकांशतः
इस पुस्तक का प्रत्येक परिच्छेद एक स्वतंत्र लेख है। किसी
पक्षि-वर्णन को देखकर जब जो भाव हृदय में अजे, उन्हें
मैंने लिपिबद्ध कर लिया। वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ
मेरी इन भावनाओं का समावेश ग्रन्थ के विविध स्थलों पर
साफ़ परिलक्षित है।... हिन्दी-पाठकों में पक्षी जाति के प्रति
दिलचस्पी उत्पन्न करना इस पुस्तक का मुख्य ध्येय है।”

एक तो पक्षियों की किस्में बहुत अधिक हैं : दुष्ट
उनका अध्ययन पुस्तकों के आधार पर जितना सुगमता
से किया जा सकता है—उन्से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित

करके उनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक रूप से लिखना उतना सुगम नहीं है। क्योंकि यह अध्ययन उन 'भावों' पर निर्भर नहीं करता जो कि एक पक्षी को देख कर हृदय में "जग" उठते हैं। इस प्रकार का वैज्ञानिक अध्ययन जीवन का विषय है और जब तक अध्ययन लगातार कई वर्षों का न हो तब तक उस अध्ययन में गम्भीरता उत्पन्न नहीं हो सकती।

स्पष्ट है यह पुस्तक पक्षियों के विषय में एक हलका-सा अध्ययन है : इसमें पक्षियों के सम्बन्ध में साहित्यिक भावनाओं को सम्मिलित कर लिया गया है : इससे पुस्तक की रोचकता में वृद्धि अवश्य हुई है परन्तु इससे पक्षियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक रहस्यों का पूर्ण रूप से उद्घाटन नहीं हो सका है। इतना ही नहीं— इसमें लेखक पक्षियों की साहित्यिक परम्पराओं का भी विस्तृत रूप से आकलन नहीं कर सका है।

हमने प्रस्तुत पुस्तक में कुछ पक्षियों के विवरण को विशेष रूप से पढ़ा। उन्हें पढ़ने से हमें यह अनुभव हुआ कि इसमें पक्षियों के विषय में जो कुछ जानकारी दी गई है वह स्वल्प है और उनके साहित्यिक पहलू पर भी कुछ अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता है। 'मोर' के सम्बन्ध में लेखक लिखते हैं : 'हर देश के मोर एक-से नहीं होते। मसलन विक्टोरिया में पाए जाने वाले मोरों की गर्दन काली होती है। ... जावा के मोर की चोटी ओरों से भिन्न होती है, रंग में भी फर्क है। आसाम के मोरों में नीलापन कम हरापन और सुनहरा-लापन अधिक होता है।'

हमने पिछले दिनों एक कविता पढ़ी थी जिस में चाँदनी की उपमा मोर से दी गई थी। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि एक मोर इस प्रकार का होता है, जिसका रंग बिलकुल सफेद होता है। हम प्रस्तुत पुस्तक में इस सफेद मोर के विषय में कुछ जानकारी उपलब्ध करना चाहते थे परन्तु इसके विषय में इस पुस्तक में कुछ लिखा नहीं गया है।

लेखक ने कौआ के दो भेद किए हैं। "काग और कौआ"। ... काग और कौए में रंग भेद तो है ही स्वभाव में भी अन्तर है। ... कौए कागों से ज्यादा भूरे होते हैं।" साहित्य में काग और कौए उनके रंग और प्रकृति में भेद उपलब्ध नहीं होता। कौआ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कौए दो प्रकार के होते

हैं एक तो वे कौए जिनका रंग सर्वथा काला होता है— इनके गर्दन के नीचे का रंग भी काला होता है। इस कौए को ह्रम कौआ या पहाड़ी कौआ भी कहते हैं और दूसरे प्रकार के कौए में यह भेद होता है कि उसकी गर्दन के नीचे का रंग सफेद होता है। इन दोनों प्रकार के कौआ को हमने देखा है। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है।

तोते के विषय में उन्होंने अनेक दिलचस्प बातें लिखी हैं। उन्होंने तोते के सम्बन्ध में किप्लिंग का उद्धरण दिया है कि उन्होंने एक बार दिल्ली की सड़कों पर एक तोता देखा जो कि कसरत तथा फौजी कवायद में पूरा दक्ष था। कभी टार्च जलाता, कभी एक छोटी सी बन्दूक लेकर चलाने का प्रयत्न करता, कभी सूतवत् लेट जाता, फिर जी उठता—इस तरह के अनेक तमाशे दिखाया करता था। "हमारे साहित्य में 'नख्तिनी का मुआटा' और 'सिम्बल और तोते' के सम्बन्ध में जो कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं—उनके सम्बन्ध में लेखक ने कुछ नहीं लिखा है।

लेखक ने 'चंडूल' (Skylark) के सम्बन्ध में लिखा है : "हमारे देश के साहित्य में जो स्थान 'कोयल और पपीहे' का है—अंग्रेजी साहित्य में वही 'बकू' और 'लार्क' का है।" यह सत्य है कि पपीहे की 'पी' और इस पक्षी के सम्बन्ध में कुछ Poetic Convention का हमारे कव्यों में है परन्तु जिस प्रकार 'लार्क' के संगीत को वर्धसवर्ध और शैली ने अंग्रेजी कविता में अमर कर दिया है वैसा पपीहे के सम्बन्ध में किसी कवि ने नहीं लिखा। Nightingale के सम्बन्ध में लेखक ने कुछ नहीं लिखा है।

पुस्तक मनोरंजक है। आशा है कि इस पुस्तक के द्वारा भारत वर्ष के पक्षियों के सम्बन्ध में ही दिलचस्पी उत्पन्न नहीं होगी—अपितु पक्षियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन और पर्यवेक्षण के लिए भी प्रेरणा भी प्राप्त होगी। शिवालय की घाटियों में

लेखक : श्री निधि सिद्धान्तलंकार

प्रकाशक : आत्माराम एन्ड सन्स,

कश्मीरी गेट,

दिल्ली-६

मूल्य : ५.००

प्रस्तुत पुस्तक में वन्य-जीवन का अपने अनुभव

के आधार पर ऐसा सरल, दिलचस्प और सरस चित्रण किया गया है कि पुस्तक को पढ़ना प्ररम्भ करने पर वह स्वयं कब समाप्त हो जाती है इसका पता नहीं चलता। यह पुस्तक किपलिंग की 'जंगल-पुस्तक' के समान था शिकार-माहिल्य-(यद्यपि इसमें कहीं शिकार नहीं किया गया है) जैसी मनोरंजक है। इसमें जो कुछ लिखा गया है अपने अनुभव और पर्यवेक्षण के आधार पर लिखा गया है-इस कारण सरल वर्णनों में ताजगी और आकर्षण है। लेखक को जंगलों से इतना अधिक प्रेम है कि उसने एक आरण्यक-संघ की आयोजना की है जो जंगलों में पर्यटन कर वनों का और वन्य-जीवन का अध्ययन करता है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी वन पर्यटन की कहानी को मजीब और लोमहर्षक भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

लेखक ने कवि हृदय पाया है और ऐसा प्रतीत होता है कि शिवालय की घाटियों से उसका जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। इन शिवालय की घाटियों को देखने से उसके हृदय में न जाने कितनी नवीन और कितनी प्राचीन स्मृतियाँ जागृत हो उठती हैं, जिनका कि वह अपने आरण्यक-संघ के मित्रों से उल्लेख करता है। उसे इन जंगलों में भयानक हिंस्र जीवों का कदम-कदम पर मुकाबला करना पड़ता है इसलिए उसमें निर्भयता आ गई है। उसने वन्य-जीवन की पुस्तकों और आखेट साहित्य का भी विस्तृत अध्ययन किया है। यद्यपि पुस्तक में स्थान-स्थान पर चित्र दिए गए हैं तो भी अच्छा होता कि इनमें से कई घटनाओं की फोटों के चित्रों को दे दिया जाता, उससे इन घटनाओं की यथार्थता का और भी अधिक अनुभव होता। जो घटनाएँ भयंकर होती हैं उनकी यथार्थता में विश्वास करना कठिन हो जाता है : वास्तविक घटनाओं के साथ यदि वास्तविक चित्र भी हों तो इससे घटना की यथार्थता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। प्रस्तुत पुस्तक में जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है वे तो यथार्थ हैं परन्तु जिन चित्रों को दिया गया है वे काल्पनिक हैं। यह सत्य है कि जिस समय ये घटनाएँ होती हैं उस समय इनका चित्र लेना कठिन होता है; अनेक समयों पर इसके लिए अवस्थाओं की अनुकूलता नहीं होती : परन्तु इसके लिए जहाँ तक संभव हो, प्रयत्न तो किया ही जाना चाहिए।

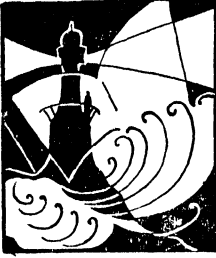
प्रस्तुत पुस्तक में अनेक वर्णन इस प्रकार के हैं जिनकी प्रत्यक्षता उन्हें और भी अधिक भयावह और

मर्मस्पर्शी बना देती है। कापालिक के पंजे से लेखक जिस तरह बच कर निकल भागा है वह भी उसके वन्य जीवन का एक अद्भुत अनुभव है। इसी प्रकार भालू, शेर, अजगर, हाथी, मगरमच्छ, तल्लूक सोंप-आदि के अनुभव भी बड़े रोमांचकारी हैं। गोह और अजगर का युद्ध किम प्रकार भयंकर था इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है : "...अभी एक ही क्षण पहले जिन्हें एक दूसरे से पृथक् रखे देख रहा था, उन्हें अगले ही क्षण एक दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था होते, उलट-पुलट, हुंकार-फुंकार, धर पकड़ करते देख मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। ...सोंप जैसे-ही-जैसे उसके पेट, पीठ और छाती को भींचता जा रहा है उसकी अवस्था बिगड़ती जा रही है। ...कह नहीं सकता अजगर ने उसके कौन-से मर्म-स्थल को दबा लिया कि उसमें हिलने-डुलने की शक्ति भी नहीं रह गई है। क्रमशः अजगर की रान्दसी लपेट भयंकर होने लगी और उसे सहन न कर सकने के कारण देखते-ही-देखते गोह का मुख खुल गया, जीभ लटक गई, दाँत निकल आए, आँखें पथरा गईं। ...अन्तिम छुटपटाहट, अन्तिम हिचकी।—यह सब तो पीछे समझ पड़ा कि उसका इस तरह आँखें पथरा कर पड़ जाना एक छल पूर्ण चाल मात्र थी : उसने अजगर की आगे बढ़ी हुई गर्दन को झपट कर मुँह में दबोच लिया। अजगर ने मारी शक्ति बटोर कर इस भयंकरता से गोह के शरीर को कसना शुरू किया कि उसकी गर्दन छूट गई और देखते ही देखते अजगर ने उसके शरीर को तोड़-मोड़ कर समाप्त कर दिया। अजगर भी अपनी लपेट खोलकर जैसे ही दो-चार डग आगे सरका मृत्यु ने उसकी जीवन-लीला भी समाप्त कर दी। इस प्रकार क अनेक अपनी आँखों देखे भीषण वर्णन अत्यन्त मजीब भाषा में प्रस्तुत किए गए हैं।

इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़ने से हृदय में साहसिक और निर्भय होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। आशा है प्रस्तुत पुस्तक के लेखक अपने आरण्यक-जीवन को अधिक विस्तृत रूप देकर अपने अनुभवों को इसी प्रकार गद्य और पद्य में लिखते रहेंगे। प्रस्तुत पुस्तक उनकी हिन्दी साहित्य को अपनी ही एक विशिष्ट प्रकार की मौलिक देन है।

ललित-कुंज,
गगनमहल कोलोनी,
हैदराबाद—१

—वंशीधर विशालकार



सामयिक

॥

आन्ध्र-प्रदेश में लोकनाट्य

श्रीयुत भालचन्द्र आटे शास्त्री का मराठी के पत्र 'पंचवारा' में 'आन्ध्र-प्रदेश में लोक नाट्य' पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...सत्रहवीं शती में तंजाऊर (तंजोर) की गद्दी को शिवा जी के पिता शहा जी राज ने हस्तगत किया। शिवा जी के भाई व्यंको जी राजे उनके पश्चात् तंजाऊर की गद्दी पर आसीन हुए। उनके उयेष्ठ पुत्र शाह जी राजे (द्वितीय) थे। उनके राज्य में आन्ध्र साहित्य और कला की जो उन्नति हुई उसके कारण शहा जी राजे का नाम अब तक भी आदर के साथ लिया जाता है। यद्यपि शहा जी राजे को मराठी भाषा से बहुत अधिक प्रेम था, तो भी उन्होंने तेलुगु भाषा में २० नाटक लिखे; तेलुगु के बड़े-बड़े विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय दिया और उनमें साहित्य, संगीत, नृत्य और नाट्य आदि विषयों पर ही नहीं अपितु अन्य विषयों पर भी उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखवाए। तंजाऊर के मरस्वती ग्रन्थालय की नींव भी शहा जी राजे के हाथों से पड़ी। उनके वंशज एको जी, सफो जी, शिवा जी आदि ने इस कार्य को और भी अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया। दक्षिण में उन्होंने कर्नाटक संगीत शास्त्र, भरतनाट्य, नृत्यशास्त्र, कुरवंजी और यत्तगान आदि को समाज में प्रचलित किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि आन्ध्र के ग्राम-साहित्य और कला आदि का विकास विपरीत अवस्थाओं में हुआ। तेलुगु के साहित्य के जन्म से पूर्व आन्ध्र के जनपद के साहित्य का प्रचलन था। इसकी अभिवृद्धि यत्तगान, कूचिपूडि भागवत, कुरवंजी और तोलुवोम्म-ल'टा आदि लोकनाट्यों के द्वारा सम्पन्न हुई। लोकनाट्य का साहित्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी अधिकतर सुखोद्गत ही रहा। पुराने तालपत्र के ग्रन्थों पर इनका कुछ भाग

पढ़ने के लिए उपलब्ध होता है। जिस प्रकार महाराष्ट्र में लावणी, पोवाड़े आदि शृंगार और वीर रस के काव्यों को मान्यता नहीं प्राप्त हुई—उसी प्रकार लोकनाट्य को भी आन्ध्र देश के सभ्य समाज में आदर प्राप्त नहीं हुआ। विजयनगर और तंजाऊर के दरबारों में लिखे गए काव्य और नाटकों में यत्तगान और कुरवंजी की कथाओं को स्थान दिया गया।

यत्तगान : यह एक प्रकार का लोक-नाट्य है। इसका प्रचार विशेषतया आन्ध्र-प्रान्त और साधारण-तया तामिलनाडु और कर्नाटक प्रान्तों में है। इसमें काव्य, संगीत, नृत्य और नाटक आदि सब का मिश्रण होता है। जिस प्रकार अंग्रेजी में 'ओपेरा' है और जावा में 'वायंग वोंग कलापम्' (Wayang wong Kalapam) है उसी प्रकार यत्तगान होता है। इसमें कविता, संगीत, नृत्य और लोक-नाट्य सब तत्व मिले हुए होते हैं।

कन्नड़ शब्द कोषों में 'किट्टल' और 'यत्तगान' का जो अर्थ दिया गया है वह निम्न प्रकार है : "A Kind of popular dramatic composition" एक प्रकार का लोक-नाट्य। जो व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप और मेघ धारण करता है उसे तेलुगु में यत्त कहते हैं। इसी प्रकार लोक-नाट्य खेलनेवालों की 'जक्कुल' नाम से कहा जाता है। आन्ध्र-प्रदेश के अनन्तपुर जिले में एक ग्राम है जिसका नाम 'जक्कुल चेरु' है। उस ग्राम के निवासियों का 'यत्तगान' पीढ़ी दर-पीढ़ी का धन्धा है। ये लोग अब दक्षिण में सर्वत्र प्रसरित हो गए हैं। ये लोग प्रायः रूप में सुन्दर और संगीत, नृत्य और नाटक आदि कला में प्रवीण होते हैं। ये लोग जब नाट्यभिनय करते हैं तब वे जिन पदों को गाते हैं उन्हीं को 'यत्तगान' अथवा 'जक्कुल पाटा' कहा जाता है।

आन्ध्र-प्रदेश में शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के

अनेक प्राचीन मन्दिर हैं उनमें से एक प्रसिद्ध मन्दिर 'श्रीशैल' है। यह मन्दिर शैवों का है। पालकोटि सोमनाथ एक शैव सन्त कवि थे। उन्होंने श्रीशैल के साहाय्य का वर्णन करने और शैव मत के प्रचार के लिए 'यज्ञगान' के प्रयोग को शुरू किया। उसके पश्चात् 'यज्ञगान' शैव और वैष्णव मत के प्रचार का साधन बन गए। प्रत्येक देवस्थान की वार्षिक यात्रा के अवसर पर 'यज्ञगान' का प्रयोग होने लगा।

प्रारम्भ में यज्ञगान एक प्रकार का मूक नाटक था। इसमें केरल में प्रचलित 'कथाकली' के समान मूक अभिनय होता था। बाद में रामायण, महाभारत, भागवत पुराण आदि और अहिम्नोद्धार, सुदामा चरित्र, ध्रुवगोख्यान, मत्स्य हरिश्चन्द्र, रुक्मिणी स्वयंवर, पल्लव नाटक इत्यादि विषयों पर यज्ञगानों की रचना की गई और उनका अभिनय किया जाने लगा।

ये नाटक वर्णनात्मक तथा संगीत, नृत्य आदि विनोद के साधनों से युक्त होते हैं; इनमें शृंगार, हास्य, कण्ठा और वीर आदि रस होते हैं और इनमें धार्मिक और भक्तिपूर्ण भावनाएँ होती हैं—इस कारण ये नाटक स्वाभाविक रूप से लोक-प्रिय हो गए। इनकी भाषा, शैली और पद्य रचना सरल और लोक-रुचि के अनुकूल होती हैं।

तंजाऊर के शहा जी राजे (द्वितीय) ने यज्ञगान पद्धति पर अनेक नाटकों की रचना की। वे संगीत-शास्त्र में निष्णात थे। संस्कृत, मराठी, तेलुगु और तमिल भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने यज्ञगान में सूत्रधार, नटी और 'कुर्वंजी' नाम के विदूषक और नाटक के अन्य पात्रों और नियमों का समावेश किया। परिणामस्वरूप यज्ञगान का एक सुसंस्कृत स्वरूप रगभूमि पर प्रस्तुत हुआ। तंजाऊर के दो पीढ़ी पूर्व के आन्ध्र राजा विजयराघव नायक को यज्ञगान नाटकों का पितामह कहा जाता है परन्तु यज्ञगान को सर्वसाधारण में लोक-प्रिय बनाने का श्रेय शहा जी राजे को है।

श्रीयुत शहा जी राजे ने २० नाटकों को लिखा। उनमें 'ल्याग-विनोद-चित्र-प्रबन्ध', 'पार्वती-कल्याणमु', 'सीता-कल्याणमु', 'किरात-विजय' और 'गीति-नाट्य' प्रसिद्ध हैं। 'ल्याग-विनोद-चित्र प्रबन्ध' का कुछ परिचय दिया जाता है :

"चित्र शब्द का अर्थ विचित्र होता है। दक्षिण

में कविता चार प्रकार की मानी जाती है : आशु, मधुर, चित्र और विस्तार। शहा जी राजे ने चारों प्रकार की कविता लिखी है। 'ल्याग-विनोद-प्रबन्ध' में मधुर और चित्र-काव्य पद्धति का प्रयोग किया गया है, भावानुसारी नृत्य, रसानुसारी गीत और कथानुसारी अभिनय ये सब इस नाटक की विशेषताएँ हैं। इसमें एक और विचित्रता है और वह यह है कि इसमें संस्कृत, तेलुगु और मराठी तीन भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

इस नाटक में छे अंक हैं। इसकी कथा निम्न प्रकार है : "भद्रकाली को अपने नृत्य पर बहुत अभिमान था। वह यह समझती थी कि नृत्य-कला में कोई भी उसके समकक्ष नहीं है। जब यह बात नारद से कही गई तो उसने कहा कि नृत्य-कला में बहुत-से स्त्री-पुरुष भद्रकाली से बड़े हुए हैं और उसे परास्त कर सकते हैं। भद्रकाली ने इस विषय में जैलेज दिया। नारद ने इसे स्वीकार कर लिया। वे चोल देश में अर्थात् तंजाऊर प्रदेश के श्वेतारण्य ग्राम में गए। उस ग्राम में एक प्रसिद्ध नृत्य-कला का पण्डित था। उसका नाम ल्यागेश था। नारद ल्यागेश से भद्रकाली के चैलेज का उत्तर देने के लिए आप्रह्व करता है, ल्यागेश उसे स्वीकार कर लेता है। नृत्य की तैयारियाँ होती हैं। यह नृत्य कई दिनों तक होता रहता है और अन्त में भद्रकाली परास्त हो जाती है और उन दोनों का विवाह हो जाता है। भद्रकाली और ल्यागेश शिव और पार्वती के अवतार थे।

शिव-पार्वती की इस कथा में इस नाटक शृंगार और हास्य इन दोनों रसों का परिपाक है।

कूचिपूडि भागवतुलु : कूचिपूडि भागवत यह एक नृत्य-नाट्य है। इसमें नाट्य की अपेक्षा नृत्य की अधिकता होती है। नाट्य का उद्देश्य रस की सृष्टि करना होता है। नव रसों का विकास जैसा काव्यों और नाटकों में होता है वैसा नृत्य में नहीं होता। नृत्य में शृंगार रस की प्रधानता होती है। इसमें संयोग और विपलम्भ शृंगार के मानसिक भावों को विभिन्न-मुद्राओं; अंग-विक्षिप और भावभंगी के द्वारा अभिनय किया जाता है। 'कूचिपूडि भागवत' में नाटक के अभिनय की अपेक्षा नृत्य का अभिनय अधिक होता है। इस प्रकार के लोक-नाट्यों से आन्ध्र प्रदेश में राजा और प्रजा दोनों का मनोरंजन होता रहा है।

कूचिपूडि यह कुचेलपुरम् (सुदामापुरा) शब्द का

अपभ्रंश है, यह ग्राम कृष्णा जिला में विजयवाड़ा से लगभग ४० मील की दूरी पर है। पन्द्रहवीं या सोलहवीं शती में एक मन्त योगी हुआ है, जिसका नाम है सिद्धन्त्र। वह इसी ग्राम का रहनेवाला था। उसने “पारिजातावहण” नाम का एक काव्य लिखा है। वह इस काव्य को एक विाष्ट पद्धति के द्वारा रंगभूमि पर लाया। पहले उस ग्राम के रहने वाले ब्राह्मणों ने इसका विकास किया। इसमें पुरुष ही स्त्री-पात्र बनते थे। इस ग्राम में एकाग्र ही ऐसा ब्राह्मण-तरुण होगा जिनमें कि स्त्री-पात्र का अभिनय न किया हो। इसका परिणाम यह हुआ कि कूचिपूडि के ब्राह्मणों ने चमचा और पंचपात्र को छोड़ कर हाथों में भौंफ और मृदंग को ले लिया और पैरों में घुँघर बाँध लिए। उस ग्राम के ब्राह्मणों का यही धन्धा बन गया।

कूचिपूडि भागवत कारों के द्वारा दक्षिण में “भरत-नाट्य” नामक नृत्य को प्रसिद्धि प्राप्त हुई और “भामा कलापम्”, “गोल्ल कलापम्” आदि उसकी नवीन शाखाएँ हैं।

कूचिपूडि के लिए रंगभूमि अत्यन्त सरलता से बनाई जाती है। किसी स्थान पर या देवल में चार बाँस लगाकर तालपत्रों से एक मण्डप तैयार कर लिया जाता है। यह रंगभूमि १३ घण्टे में तैयार हो जाती है। इस में मफेद कपड़े का एक पर्दा लगा दिया जाता है। दोनों ओर दो आदमी मशालों या प्रकाश को लेकर खड़े हो जाते हैं। अब तो इसके लिए पेट्रोलैकम का प्रयोग होने लग गया है। गायक और वाद्य पीछे रहते हैं जो पार्श्व-संगीत का काम करते हैं, नाटक गत के ५ बजे से प्रारम्भ होता है और प्रातःकाल ५ बजे तक चलता रहता है।

कूचिपूडि नाटक मंडली वर्ष में ६ महीने ग्राम-ग्राम में फिरती रहती है और प्रचुर धन का उपार्जन करती है; इनके साथ वाद्य, शृंगार-साधन, अनेक प्रकार के वस्त्रा-लंकार और नकाब और रसोई आदि के लिए भांडे रहते हैं। कूचिपूडि नाटकमंडली के लोग अपना खाना स्वयं बनाते हैं—वे किसी दूसरे के हाथ का खाना नहीं खाते

“भामा कलाप” यह कूचिपूडि पद्धति का एक अत्यन्त लोकप्रिय गीत नाट्य है। “भामा” शब्द “सत्यभामा” का संक्षिप्त रूप है। “कलाप” शब्द का

अर्थ है “कलह”। रुक्मिणी और सत्यभामा इन दोनों का कलह; विशेष कर मनिनी सत्यभामा का मानभंग करने के लिए कृष्ण उसकी खुशामद-बखामद करते हैं, उसके पैरों पर पक्षते हैं। “भामाकलाप” में ताल, स्वर और नृत्य एक साथ चलते हैं। पारिजात-वृक्ष के आख्यान के आधार पर अनेक “भामाकलाप” लिखे गए हैं। प्रत्येक नाटक में संस्कृत-नाटकों के अनुसार, पहले नाटी, ईश-स्तुति आदि होती है और इनका अन्त ‘भरत-वाक्य’ से होता है। यद्यपि इन नाटकों में शृंगार इसकी प्रधानता है तो भी इस में पारिजात के वृक्ष के लिए कृष्ण और इन्द्र में युद्ध होता है और इस कारण इस में वीर रस का भी समावेश हो जाता है।

“गोल्लकलापम्” (ग्वालिन का कलह) यह कूचिपूडि पद्धति का एक गीत, नृत्य नाटक है। “गोल्ला” गोपाल शब्द का अपभ्रंश है। गोल्ल कलाप नाटक का प्रारम्भ नाटी से होता है। तीन चार व्यक्ति मिलकर गीत गाते हैं। गाना समाप्त होते होते ग्वालिन दही-छाछ बेचती हुई आती है और उसके बाद ही ‘सुकरी’ टेकम लेने वाला आता है और उससे शृंगार और हास्यरस मिश्रित बातें करता है और ग्वालिन के उत्तर भी श्लेषपूर्ण होते हैं। टेकम लेने वाला टेकम लेने का आग्रह करता है, दोनों की बातचीत कलह में परिणत हो जाती है। इतने में ग्वालिन की मास का प्रवेश होता है और वह ग्वालिन को ले जाती है। गोल्लभामा और सुकरी का यह कलह राधा-कृष्ण की लीला का स्मरण दिलाता है।

कुरवंची : कुरवंची यह एक हास्यरसपूर्ण लोक नाट्य है। यक्षगान, कूचिपूडि भागवत आदि जैसी विशेषता इस में नहीं होती। कुरवंची कुरव जाति की तरुणी को कहते हैं और वह शहरों में श्रोत्रधि, वनस्पति, शहद, पोत, मणि और सुइयों आदि बेचती है। स्त्रियों के हाथ देखकर भविष्य बतलाने का भी ये कार्य करती हैं। इनके सिधे-माधे निष्कपट जीवन के आधार पर अनेक हास्य-रसपूर्ण लोक-नाट्य तेलुगु, तमिल और कन्नड़ भाषाओं में लिखे गए हैं। इन नाटकों के कथानक का आधार शिव-पार्वती लीला, अथवा लक्ष्मी-विष्णु लीला होता है। “किराताजुनीय” के आख्यान के आधार पर लिखी गई कुरवंची दक्षिण की भाषाओं में बहुत प्रसिद्ध हैं। शिव-पार्वती के विवाह से पूर्व विष्णु कुरवंची

के रूप में आकर पार्वती का हाथ देखते हैं और उसे उसके विवाह के सम्बन्ध में बतलाते हैं। शिव पार्वती के विवाह के समान 'रामजयन्ती' कुरवंची शंकर की इच्छा के अनुसार पार्वती, कुरवंची रूप में आकर कौशल्या को उसका भविष्य बतलाते हैं।

आधुनिक नाटकों में कुरवंची को एक विशेष स्थान प्राप्त है। कितने ही काव्यों में यज्ञगान और कृचिपूषि पद्धति के लोक-नाट्यों में, इतना ही नहीं आधुनिक नाटकों में भी कुरवंची को एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। हास्य, विनोद, मिश्र-कथा, कथानक की पूर्व-सूचना, नायिका या उनकी दूती के रूप में कुरवंची के पात्रों की योजना की जाती है। तंजाऊर के शाह जी राजा के नाटकों के आधार पर यज्ञगान और अन्य नाटकों में कुरवंची को स्थान दिया जाता है।

तोलु बोम्मलाटा : इसका अर्थ है ऐमा खेल जिम में चमड़े की पुतलियाँ होती हैं। यह एक इस प्रकार का नाटक है जो कि नाटकों के अन्य रूपों से सर्वथा भिन्न होता है। यह एक प्रकार का छाया-चित्र नाटक होता है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके दिग्दर्शक महाराष्ट्रीय होते हैं। इस प्रकार के छाया-चित्र नाटक महाराष्ट्र में तो बिलकुल नहीं हैं। इस प्रकार के छाया-चित्र नाटक किस प्रकार प्रचलित हो गए और इसका महाराष्ट्र में क्या सम्बन्ध है इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। इस विषय में अनुसन्धान की आवश्यकता है।

इस प्रकार के छाया-चित्रों के उपाख्यान विष्णु के दस अवतारों के सम्बन्ध में होते हैं या फिर रामायण, महाभारत और भागवत में उपलब्ध कथाओं से लिए जाते हैं। इन उपाख्यानो को यज्ञगान शैली के गीतों के जैसा बनाया जाता है। देव, दानवों के रूप का हरिण या बकरी के चमड़ों के द्वारा प्रदर्शन किया जाता है। सफेद पर्दों पर दीपक की आग में पुतलियों की छाया डाली जाती है। दोनों तरफ देव और दानवों के चित्र कथानक के अनुसार रखे जाते हैं। जो दिग्दर्शक होते हैं, वे अनुक्रम से छाया डालते जाते हैं। चित्रों के साथ साथ गीत चलते रहते हैं। जहाँ पुरुषों की आवाज की आवश्यकता होती है वहाँ पुरुष की आवाज में और जहाँ स्त्री की आवाज की आवश्यकता होती है वहाँ स्त्री की आवाज में गाने गाए जाते हैं। सोलो,

कोरस, म्यूजिक, साउण्ड इफेक्ट्स, छाया और ध्वनि का संगीत (सिंक्रोनाइजेशन) आदि सब आधुनिक वस्तुओं का प्रयोग इस प्रामीण छायाचित्र में इतनी उत्तम रूप रीति से किया जाता है कि हजारों प्रेक्षक रात्रिपर्यन्त इस तोलु बोम्मलाटा देखते हुए अपने को भूल जाते हैं।

आन्ध्र देश में इस लोकनाट्य ने मकड़ों वर्षों तक लोकाश्रय में रह कर उत्पत्ति की है। इस लोकनाट्य को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई है वह शहर के नाटकों को प्राप्त नहीं हुई। सिनेमा और टाकीज के इस युग में अन्य नाटकों की तरह इस लोकनाट्य का भविष्य भी अन्धकारपूर्ण प्रतीत होता है।

॥

चीनी किसानों की कविता

“आज के चीन” में चीनी किसान की कविता के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है। “चीन की अधिकांश जनता अभी लिखना सीख रही है इसलिए उनके पथ सुघर नहीं होते।... परिश्रम करनेवाली जनता एकमात्र भौतिक सम्पदा का ही नहीं, मानव की मानसिक सम्पत्ति का निर्माण कर रही है।” चीन के किसानों के गीत निम्न प्रकार हैं :

“ऊपर कोई भगवान् नहीं,
और नीचे कोई दैत्य नहीं
मेरी सर्वशक्तिमान् भगवान् हूँ
और मैं ही सबसे महान् दैत्य
पर्वतों और चट्टानों को रास्ते से
हट जाने को कह दो,
मैं आ रहा हूँ।”

—

“एक सौस में पर्वत
धराशायी हो जाते हैं;
एक इशारे से नहीं
अपना रास्ता बदल देती है;
नीले आकाश को हम
अपने कंधों पर उठाते हैं;
और ताईशान (पहाड़) को
हम जब से सटा लेते हैं;
हमारी जनता की शक्ति अपार है”



सम्पादकीय

अंग्रेजी की कान्फरेन्स

पिछले कुछ समय में प्रति वर्ष भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों के अंग्रेजी विभाग के प्राध्यापकों द्वारा अंग्रेजी की कान्फरेन्स का आयोजन किया जाने लगा है। इस को आल-इंडिया इंग्लिश टीचर्स कान्फरेन्स कहा जाता है। इस वर्ष यह कान्फरेन्स मद्रास में की गई थी। यदि इस कान्फरेन्स में अंग्रेजी के अध्ययन की उन्नति के विषय में विचार किया जाए और इस सम्बन्ध में प्राध्यापकों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उस पर विचार किया जाए तो संभवतः यह कान्फरेन्स अंग्रेजी के प्रशिक्षण की उन्नति के सम्बन्ध में कुछ क्रियात्मक ठोस कार्य कर सकेगी, परन्तु अपने इस क्षेत्र को छोड़ कर जब यह कान्फरेन्स समस्त देश की भाषा विषयक नीति पर अपने विचार प्रकट करने लग जाती है और अपने को एकमात्र अंग्रेजी के प्रचार के रूप में प्रस्तुत करने लगती है तो वह न केवल अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है अपितु वह जिस कार्य को करना चाहती है उस कार्य पर अपनी शक्तियों को केन्द्रित नहीं कर पाती। क्या अंग्रेजी के प्राध्यापक होने के अर्थ अंग्रेजी का प्रचारक होना भी है और क्या प्राध्यापकों की यह कान्फरेन्स विद्यालयों और विश्वविद्यालयों को अंग्रेजी के प्रचार और प्रसार का प्राधान्य बनाना चाहती है।

अंग्रेजी के अध्ययन और अध्यापन से देश के किसी शिल्पा शास्त्री का विरोध है और न किसी भारतीय भाषाओं के प्रेमी का। यह समझना कि जो लोग भारतीय भाषाओं के प्रेमी हैं वे अंग्रेजी के प्रशिक्षण के विरोधी हैं—ठीक नहीं है। इस प्रकार के लोगों को Fanatics कहना कहीं तक उचित है। यदि भारतीय भाषाओं के प्रति प्रेम Fanaticism है तो क्या अंग्रेजी के प्रति मोह Fanaticism नहीं है? अभी तक हमारे विश्वविद्यालयों और विद्यालयों में अंग्रेजी का प्रशिक्षण जिस पैमाने और स्तर पर हो रहा है— भारतीय भाषाओं का प्रशिक्षण उस पैमाने और स्तर

पर नहीं हो रहा है। मेरे केवल इतना ही हुआ है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में अब मातृभाषा की शिक्षा दी जाने लगी है और विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं को बनाया जा रहा है। क्या अंग्रेजी के समर्थक यह चाहते हैं कि भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान न दिया जाय? अंग्रेजी के अधिकांश पक्षपाती इस सम्बन्ध में विचार ही नहीं करते। यदि इन लोगों की चल गई तो हो सकता है कि कुछ समय पश्चात् यह आवाज उठाई जाए कि एक बालक को प्रारम्भ से अन्त तक यदि कोई भाषा सिखाई जाए तो अंग्रेजी, यदि उसे समस्त विषय पढ़ाए जाएं तो अंग्रेजी के द्वारा—क्यों कि अन्ततः भारतीय भाषाओं में रखा ही क्या है? ये भाषाएँ विकसित नहीं हैं; उन पर अधिक ध्यान देना न केवल एक प्रकार की कीवानगी ही है अपितु इससे तो हम संसार की उन्नति में पीछे रह जाएंगे; ज्ञान-विज्ञान और यंत्र-विद्या में पिछड़ जाएंगे; हमारा अन्तर्जातीय महत्व नष्ट हो जाएगा; हमें जो स्वतन्त्रता अंग्रेजी के द्वारा प्राप्त हुई है उसे हम कायम नहीं रख सकेंगे और भारतीय भाषाओं के अनेक प्रकाश का युग नष्ट हो जाएगा और उसके स्थान पर अन्धकार का युग छा जाएगा।

अंग्रेजी की इस कान्फरेन्स में अंग्रेजी के इन समर्थकों के भाषण को पढ़ने में ऐसा ज्ञात होता है कि हमारे देश की शिक्षा के क्षेत्र में अगर सब से बड़ा कोई प्रश्न है तो अंग्रेजी का है। प्रश्न यह है कि यदि हमारा समस्त देश अंग्रेजी को प्रवाह से बोलने और लिखने लग गया तो क्या हमारा देश उन्नति के शिखर पर पहुँच जाएगा? इस समय भी तो हमारे देश के प्रशासन का सारा कारोबार अंग्रेजी में ही चल रहा है; हमारे देश के विश्वविद्यालयों की ऊँची-से-ऊँची जगहों पर वे ही लोग बैठे हुए हैं जिनमें अन्य कोई विशेषता हो या न हो, यह विशेषता तो अवश्य है कि वे अंग्रेजी को धक्कले में बोल और लिख लेते हैं; फिर हमारे देश की अधिकांश जनता की सर्वतोमुखी उन्नति क्यों नहीं होती? अंग्रेजी के प्रशासन के समय जब अंग्रेजों

और अंग्रेजी का राज्य था तब हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति का कितना विकास हुआ ?

इस कान्फरेन्स के स्वागताध्यक्ष मद्रास यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सेलर श्रीयुत लक्ष्मण स्वामी मुदाक्षियर थे, उन्होंने अपने भाषण में कहा : "...किसी भाषा को सीखने का सबसे अच्छा समय जीवन का प्रारंभिक समय है। जब बच्चा ५ और १० वर्ष की आयु के बीच में होता है उसी समय उसमें किसी भाषा को सीखने की अद्भुत क्षमता होती है। यह समुचित होगा कि बोलचाल की अंग्रेजी का अध्ययन बच्चे की प्रारंभिक आयु से ही शुरू कर दिया जाए। एक बच्चे के लिए ६ या १० वर्ष की आयु में दो भाषाओं का सीखना कोई बड़ा बोझ नहीं होगा।"

इस प्रकार श्रीयुत लक्ष्मण स्वामी मुदाक्षियर यह चाहते हैं कि बचपन से ही भारतीय बालकों को अंग्रेजी का बोलचाल के रूप में प्रशिक्षण दिया जाए और शिक्षा को अन्तिम अवस्थाओं में क्या किया जाए इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं : "हमें बिना किसी संकोच के इस बात पर पूर्ण रूप से बल देना चाहिए कि हमारे देश की उच्च शिक्षा में अंग्रेजी का अध्ययन किया जाए। जो शिक्षा हमारे देश में पदान की जाए मुख्यतया उसका माध्यम अंग्रेजी को ही रखना चाहिए परन्तु इसके साथ साथ अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा को उतनी ही मुख्यता दी जानी चाहिए जितनी कि किसी अन्य भाषा को दी जानी चाहिए। इस प्रकार हम इस स्थिति में आ जायेंगे कि हम अपने भाषा विषयक प्रश्नों का समाधान कर सकेंगे और भाषा का वाद-विवाद समाप्त हो जाएगा।"

यदि 'प्रादेशिक भाषा या मातृभाषा को उतनी ही मुख्यता दी जाएगी' जितनी कि अंग्रेजी को, तो फिर समस्या हल कैसे होगी ? क्या उच्च शिक्षा में अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषा दोनों को एक समान भूमि मिलाना पड़ेगा और क्या शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषा दोनों को बनाना पड़ेगा ? क्या यह दोनों बातें एक साथ सम्भव हो सकेंगी ? प्रश्न यह है कि प्रादेशिक भाषाओं का विकास कब, कितने समय में और किस प्रकार होगा ? क्या वे कभी इस स्थिति में आ सकेंगी कि इन भाषाओं के सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सके जो कि अंग्रेजी के सम्बन्ध में मद्रास के वर्तमान गवर्नर श्रीयुत विष्णु मेघी ने कही है : "...अंग्रेजी विश्व की भाषा है।

विश्व की भाषाओं में इसका एक अद्वितीय स्थान है, यह कहा जाता है कि विश्व में प्रत्येक १० में १ अंग्रेजी बोलता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की भाषा है। इसमें जहाँ अद्भुत साहित्य है वहाँ यह नए ज्ञान विज्ञान और यन्त्र-विद्या की भाषा है।" ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीयुत लक्ष्मण स्वामी मुदाक्षियर प्रादेशिक भाषा या मातृभाषा के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं वे एकमात्र शिष्टाचार के आधार पर परन्तु वे जो कुछ चाहते हैं, वह है अंग्रेजी और एकमात्र अंग्रेजी। और इस लिए उन्होंने अपने इस कान्फरेन्स के स्वागताध्यक्षी भाषण में अंग्रेजी के अध्ययन को विस्तृत करने के सम्बन्ध में यह परामर्श दिया है : "क्या इस बात की संभावना है कि सिज़ सिज़ स्तरों पर अंग्रेजी के अध्ययन को विस्तृत और उन्नत करने के लिए ऐच्छिक एसोसिएशनों की स्थापना की जाए।" सम्भवतः इस प्रकार के ऐच्छिक एसोसिएशन अंग्रेजी के अध्ययन को जहाँ उन्नत और विस्तृत करेंगे वहाँ वे अंग्रेजी का प्रचार और उससे आधार को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करेंगे।

कान्फरेन्स के अध्यक्ष श्रीयुत श्री दीवानचन्द शर्मा का भाषण मार्गभित और संयत भाषा में था और उन्होंने कुछ बातें बहुत मार्फ की कहीं : "...अंग्रेजी के अध्यापकों का यह प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक और परिश्रमी हों। उन्हें अपने मानसिक क्षितिज को विस्तृत बनाने की आवश्यकता है। अंग्रेजी का कोई शिक्षक अपने आप को पृथक् रखकर कार्य नहीं कर सकता। अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य को सुचारु रूप में समझने और व्याख्या करने के लिए उसे अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यदि हम भारतीय स्थिति से अपना सम्पर्क बनाए रखेंगे तो अंग्रेजी का भाविष्य इस देश में सुरक्षित रहेगा।"

दुःख तो यही है कि अंग्रेजी जाननेवाला अभी तक इस बात को अनुभव नहीं कर रहा है कि उसे अपनी भाषाओं का ज्ञान यदि अंग्रेजी से अच्छा नहीं तो उसमें किसी प्रकार भी कम नहीं होना चाहिए। उसने अंग्रेजी के द्वारा अपने आप को भारतीय भाषाओं से ही नहीं, अपने आप को अधिकांश रूप में भारतवर्ष से भी पृथक् कर लिया है और यहाँ के जीवन और स्थिति से उसका सम्पर्क नहीं है। ऐसी अवस्था में वह इस देश में अंग्रेजी के भविष्य को किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है !

